सम्पादकीय

राजस्थानी साहित्य पर पिछले कुछ वर्षों मे शोध-कार्य चल रहा है। कई महत्वपूर्ण कवियों और काव्य-कृतियों को प्रकाश में लाया गया है पर प्रारभिक राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध में बहुत कम खोज हुई है। इने-गिने विद्वानों द्वारा जो कुछ कार्य इस दिशा में हुआ वह बहुत थोड़ा और विवादास्पद है। अतः राजस्थानी साहित्य के क्रमिक विकास को समझने के लिए प्राचीनतम सामग्री को प्रकाश मे लाना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत अक में इस काल की महत्वपूर्ण साहित्य-विधाओ और कुछ काव्य-कृतियों का अधिकारी विद्वानो द्वारा विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

राजस्थानी साहित्य का आदिकाल कहा से कहा तक माना जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है। अत लेखकों ने अपने-अपने मतानुसार आदिकाल का समय निर्धारित कर अपने विषय पर प्रकाश डाला है। अधिकांश विद्वानो ने प्राचीन राजस्थानी का उद्भव ६ वी शताब्दी से माना है और 'कुवलयमाला कथा' (स० ८३५) मे उल्लिखित मरुभाषा[1] को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। १२ वी शताब्दी तक का समय वैसे अपभ्रंश काल माना जाता है क्योंकि इस काल की प्रमुख साहित्यिक भाषा अपभ्रंश ही थी। पर अपभ्रंश के साथ-साथ अनेक जन-भाषाएँ इस काल (६वी से १२ वी शती) में अलग-अलग जनपदो मे अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी इसीलिए 'कुवलयमाला कथा' के रचयिता उद्योतन सूरि ने १८ देशी भाषाओ मे मरुभाषा की भी गणना करते हुए उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। 'कुवलयमाला' के एक चर्चरी

---

[1] अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मारुए तत्तो
न उ रे भल्लइ भणिरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे
अम्ह काउ तुम्ह भणिरे अह पेच्छइ लाडे
भाइ य भइणी तुब्भे भणिरे अह मालवे दिट्ठे।

रास का उदाहरण यहा प्रस्तुत किया जाता है जिसमे मरुभाषा (प्राचीन राजस्थानी) का रूप कम स्पष्ट परिलक्षित होता है—

कसिण कमठ दळ सोयण चा रे हलयो
पीण पिहुल थण कडियल-भार किं नत ग्रो।
ताल चलित वलिग्रावलि कलयल सद ग्रो
रास धम्मि जइ लब्भइ जुवइ सत्थ ग्रो ॥

अत राजस्थानी साहित्य का प्रारभ ६ वी शताब्दी से ही मान लेने मे आपत्ति नही होनी चाहिए, यद्यपि १३ वी शताब्दी के पहले का बहुत कम साहित्य हम उपलब्ध होता है। १३ वी शताब्दी के बाद की अनेक रचनाएँ इस भाषा मे उपलब्ध होती हैं पर उनमे भी जैन साहित्य की ही प्रधानता है। १६ वी शताब्दी तक आते आते राजस्थानी साहित्य काफी समृद्ध हो गया था। भाषा की दृष्टि से इस काल की भाषा को डा० टैसीटरी ने 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' कहा है। १६ वी शताब्दी तक यही भाषा राजस्थान और गुजरात के बहुत बडे भू खड की साहित्यिक भाषा रही है। गुजराती साहित्य के प्रकाड विद्वान स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी ने भी प्राचीन राजस्थानी को ही गुजराती की जननी मानते हुए उसके विस्तृत साम्राज्य को नि सकोच स्वीकार किया है।

डा० टैसीटरी के मतानुसार १६ वी शताब्दी तक का समय प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का है।[1] यहा से गुजराती ने अपना स्वतन्त्र रूप विकसित किया और कालान्तर मे वह एक अलग भाषा हो गई। उधर आधुनिक राजस्थानी ने अपना नया रूप ले लिया। कई विद्वानो ने डा० टैसीटरी की इस मान्यता के प्रति शका की है। उनके मतानुसार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का समय १५ वी शताब्दी तक ही माना जाना चाहिए क्योकि आधुनिक राजस्थानी का रूप १६ वी शताब्दी म प्रारम्भ हो गया था। पर यह भी सत्य है कि १६ वी शताब्दी की भाषा प्राचीन राजस्थानी क ही अधिक निकट है अत भाषा की दृष्टि से

---

[1] मुझे यह स्थापित करन म कोई कठिनाई नही दीख पडती कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कम स कम सोलहवी शताब्दी तक की लबी अवधि तक जाकर समाप्त हुआ होगा। लेकिन बहुत सभव है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी इस सीमा क बाद भी रही हो—और नहीं तो इसकी कुछ विशेषताएँ तो निश्चय ही।

डॉ० टैसीटरी, पुरानी राजस्थानी, पृ० १० अनु० नामवरसिंह।

इस शताब्दी को सन्धि-काल मानने पर भी इस काल की रचनाओं को प्रारंभिक काल के अंतर्गत ही मानना चाहिए। जालोर मे सं० १५१२ में पद्मनाभ विरचित 'कान्हड़दे प्रबंध' को गुजराती विद्वान जूनी गुजराती का ग्रंथ मानते हैं अत. उसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का ही ग्रथ कहा जा सकता है न कि आधुनिक राजस्थानी का। १६ वी शताब्दी में राजस्थानी साहित्य को विस्तार मिला है। उसमें निखार भी आया है और कई प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी हुए हैं। पर साहित्य को नया मोड़ देने वाले कवियो का प्रादुर्भाव १७ वी शताब्दी में ही हुआ है। डिंगल के सर्वश्रेष्ठ कवि राठौड़ प्रथ्वीराज, दुरसा आढ़ा, मीरां, ईसरदास, साइया भूला आदि इसी शताब्दी के कवि हैं। कवि हरराज द्वारा राजस्थानी के महत्वपूर्ण छन्द-शास्त्र 'पिंगल सिरोमणि' की रचना भी इसी शताब्दी में हुई। अतः मध्यकाल का प्रारंभ १६ वी शताब्दी के अंत से ही मानना उचित होगा। वैसे इस तरह का काल-विभाजन किसी भी साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है। एक निश्चित सीमा-रेखा खेंच कर प्रत्येक काल को एक दूसरे से पृथक करना तो संभव है ही नही क्योंकि सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ साथ भाषा और साहित्य का क्रमिक विकास होता है। इस विकास-क्रम का सूत्र कही भी टूटता नही। एक युग की भाषा-गत और साहित्यिक विशेषताएँ किसी न किसी रूप मे दूसरे युग की - रचनाओं को भी प्रभावित करती हैं।

इस काल की साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए तत्कालीन ऐति-हासिक व सामाजिक परिस्थितियो पर भी सक्षेप मे प्रकाश डालना अप्रासागिक न होगा। यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से सघर्षपूर्ण रहा। यहा के हिन्दू राजाओं को अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और पठानो, सैयदो तथा लोदी वंश के शासको से निरतर लोहा लेना पडा जिसकी साक्षी इस काल के साहित्य में भी पाई जाती है। महाराणा सग्रामसिंह के साथ बाबर का अन्तिम भयंकर युद्ध हुआ और सग्रामसिंह की हार के साथ ही मुगल-सल्तनत की नींव भारतवर्ष में कायम हो गई। पर इसके बाद भी राजस्थान के लोगो ने विदेशी सत्ता के सामने पूर्ण समर्पण नही किया। इतने बडे सघर्ष के कारण सामाजिक उथल-पुथल भी स्वाभाविक ही थी। इस सकटकालीन स्थिति मे भी यहां की जनता ने अपने धर्म और संस्कृति को ही प्रधानता दी और किसी तरह के लोभ में आकर भी विदेशियों की संस्कृति को स्वीकार नही किया। जो योद्धा धर्म, सांस्कृतिक मर्यादा और असहाय को सहायतार्थ युद्ध कर के प्राणोत्सर्ग करते,

जनता उन्हे सम्मान की दृष्टि से देखती थी। इस प्रकार जूझ कर मरने वाले जूझारो की लोग आज भी देवताओ की तरह पूजा करते हैं। विदेशियो के साथ सपर्क बढने से यहा की भाषा मे कुछ अरबी फारसी के शब्दो का प्रचलन अवश्य हो गया जिसका उदाहरण इस काल की महत्वपूर्ण रचना 'अचळदास खीची री वचनिका' मे देखा जा सकता है।

इस काल के साहित्य को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) जन साहित्य

(२) जैनेतर साहित्य

(i) चारण शैली का साहित्य

(ii) भक्ति साहित्य

(३) लोक साहित्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह काल सघर्ष और सामाजिक उथल-पुथल का काल रहा है, पर इस समय का वीररसात्मक साहित्य बहुत कम उपलब्ध होता है। अधिकाश साहित्य जैन-धर्मावलबियो द्वारा रचा गया है। इस काल की सैकडो जैन रचनाएँ आज भी उपलब्ध होती हैं। जैन मुनियो और श्रावको ने जैन धर्म के प्रचार प्रसार के लिए नवीन साहित्य का ही सृजन नही किया, प्राचीन भाषाओ के महत्त्वपूर्ण ग्रथो की टीकाएँ, टब्बे, बालावबोध, पद्यात्मक अनुवाद आदि भी बहुत किये और महत्त्वपूर्ण साहित्य को उपाश्रयो आदि मे सुरक्षित रख कर नष्ट होने से बचाया। इस काल का प्रमुख साहित्य जैन साहित्य ही है। धार्मिक उद्देश्य से लिखे जाने के कारण ही इसे साहित्यिक महत्व न देना अनुचित होगा। जैन धर्मावलबियो ने इस प्रकार राजस्थानी भाषा और साहित्य की महान् सेवा की है जिसका महत्त्व राजस्थानी साहित्य के इतिहास मे कभी कम न होगा।

जैनेतर साहित्य मे चारण साहित्य, भक्ति साहित्य और प्रेमगाथात्मक साहित्य की गणना की जा सकती है। चारण शैली मे लिखी गई वीररसात्मक रचनाओ मे सिवदास गाडण कृत 'अचळदास खीची री वचनिका' बादर ढाढी रचित 'वीरमायण', श्रीधर व्यास का 'रणमल्ल छद' आदि प्रमुख हैं। 'वीरमायण' की बहुत प्राचीन हस्तलिखित प्रतिया उपलब्ध नही होती और मौखिक परम्परा के कारण उसमे भाषागत परिवर्तन के साथ-साथ कई एक क्षेपक भी जुड गये हैं। पर 'अचळदास खीची री वचनिका' इस काल की भाषा और शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ० टेसीटरी ने भी इसे 'The great Classical

model'[1] कह कर इसके महत्त्व को प्रदर्शित किया है। इन महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त कई स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं। शृंगाररसात्मक रचनाओं में आसाइत रचित हंसाउली, ढोला मारू रा दूहा, जेठवे रा सोरठा आदि उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ भी इसी समय में रची गयी। इस काल की प्रसिद्ध रचना 'बीसलदे रासो' को कई विद्वानों ने वीररसात्मक साहित्य के अंतर्गत लिया है पर उसका भी मुख्य विषय शृंगारिक ही है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण डिंगल गीत शैली का प्रादुर्भाव भी इसी काल में हुआ। प्राचीनता की दृष्टि से १४ वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि बारूजी सोदा का नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे गीत शैली की प्राचीनता के कई एक प्रमाण इनके पहले भी मिलते हैं[2]। १५ वी और १६ वी शताब्दी में तो गीत-रचना काफी परिमाण में हुई। इस काल के योद्धाओं पर लिखे गये गीत डिंगल साहित्य की अमूल्य निधि हैं।[3]

भक्ति साहित्य में नाथ सम्प्रदाय और कबीर आदि सन्तों की सन्त-परम्परा का प्रभाव राजस्थानी में भी आया। १६ वी शताब्दी में अलूनाथ बहुत प्रसिद्ध भक्त कवियों में हुए हैं। इनकी रचनाएँ आदि काल और मध्य काल के बीच रची गई जिससे भाषागत परिवर्तन का बारीकी से अध्ययन करने के लिए वे विशेष रूप से उपयोगी हैं।

इस काल का अधिकांश साहित्य दोहा, सोरठा, गाहा, गीत, झूलणा, चौपाई चौपइ आदि छंदों में छन्दोबद्ध हुआ है।

जितना प्राचीन गद्य राजस्थानी में उपलब्ध है उतना शायद बहुत कम आधुनिक भारतीय भाषाओं में होगा। राजस्थानी गद्य के उदाहरण १२ वी शताब्दी तक में मिलते हैं। जैन लेखकों द्वारा इस काल में बहुत सा गद्य लिखा

---

[1] वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेसदासोत री, भूमिका, पृ० ६।

[2] मरु भारती, वर्ष ८, अंक १ में देखिये मेरा लेख 'डिंगल गीतों का उद्भव और विकास'।

[3] 'महाराणा यश प्रकाश' में भूरसिंह शेखावत द्वारा संग्रहीत गीत तथा उदयपुर के साहित्य संस्थान द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन राजस्थानी गीत' इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं।

गया। गद्य का सुन्दर उदाहरण 'अचळदास खीची री वचनिका' में भी देखा जा सकता है। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण टीकाएँ और अनुवाद भी इस काल में हुए है।

इस समय के लोक साहित्य में पवाडो का प्रमुख स्थान है। बारहठ किशोरसिंहजी के मतानुसार तो पवाडे राजस्थानी साहित्य की प्राचीनतम धरोहर हैं।[1] पाबूजी राठौड, बगडावत और निहालदे सुल्तान के पवाडे लोक-काव्य के ऐसे वट वृक्ष हैं जिनकी शाखाएँ प्रशाखाएँ बढती ही रही हैं और आज तो उनकी गणना करना ही कठिन सा हो गया है। इन पवाडो में अनेक नायक नायिकाओ और तत्कालीन समाज का विस्तृत चित्रण सरल एव सरस लोक शैली मे देखने को मिलता है।[2] आज भी यहा की भील जाति रावणहत्थे (एक तार वाद्य) पर पाबूजी के पवाडे बडे प्रभावोत्पादक ढग से गाती है जिन्ह सुनते ही रोमाच हो आता है। बगडावतो की दानशीलता और वीरता के पवाडे प्राय गुर्जर लोग गाते हैं। इनके अतिरिक्त कई छोटे-बडे प्रेमगाथात्मक पवाडो और दोहो सोरठो के माध्यम से भी लोक साहित्य विकसित हुआ जिनमे से अनेक का सम्बन्ध सूत्र अपभ्रंश की कई रचनाओं से भी जोडा जा सकता है।

लोक साहित्य की यह परम्परा मौखिक ही रही जिससे उस काल का बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया। जो कुछ आज उपलब्ध है वह भी बडी तेजी से नष्ट होता जा रहा है। अत इन्हें लिपिबद्ध करके प्रकाशित करना तो आवश्यक है ही पर यदि इनके गायको की सगीतात्मक वाणी को भी टेप रेकार्ड के माध्यम से सुरक्षित कर लिया जाय तो आगे आने वाली पीढिया भी इन पवाडो का सही मूल्य जान सकगी क्योकि यह सगीतात्मकता ही इनकी असली आत्मा है।

आदिकालीन राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी सामग्री हस्तलिखित ग्रथो और शिलालेखो आदि के माध्यम से आज भी उपलब्ध होती है पर न जाने कितने हस्तलिखित ग्रथ कई कारणो से नष्ट हो चुके हैं। जो कुछ बचे हैं व शोधकर्ताओ

---

[1]चारण—भा० १, पृ० १५४।
[2]विस्तृत जानकारी के लिए 'मरु भारती' मे डा० कन्हैयालाल सहल द्वारा सम्पादित पवाड तथा उपा मलहोत्रा के लेख देखिये।

को आसानी से उपलब्ध नही होते और दिनोदिन नष्ट होते ही हैं। पिछले कुछ ही वर्षो मे कितने ही हस्तलिखित ग्रथ और चित्र आदि कबाडियो और व्यापारियो द्वारा इधर-उधर कर दिये गये हैं। ऐसी स्थिति मे हमारा यह बहुत बडा दायित्व है कि इस अमूल्य निधि को कालकवलित होने से बचाये। इस दिशा मे किये गये प्रयत्न साहित्य और इतिहास के लिए बहुत हितकर होगे, क्योकि इस काल की छोटी से छोटी रचना का भी कई दृष्टियो से महत्व है।

राजस्थानी साहित्य की कुछ आदिकालीन रचनाओ पर हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको ने हिन्दी की प्रारभिक रचनाएँ मान कर भाषा और रचना-प्रणाली की दृष्टि से विचार किया है। परन्तु उनमे से कई विद्वानों का अध्ययन एकागी और अपूर्ण रहा जिससे कई एक भ्रामक धारणाएँ प्राचीन राजस्थानी के सम्बन्ध मे भी हो गईं। बीसलदेव रासो, आदि के अतिरिक्त कितना विशाल साहित्य, विविध शैलियो मे इस काल मे लिखा गया इसकी ओर उनका ध्यान नही गया। प्राचीन राजस्थानी को हिन्दी के आदि काल के अतर्गत लेकर उसे चारणो तथा भाटो द्वारा रचित प्रशस्ति-काव्य मात्र मानने स भी उसकी वास्तविक विशेषताओ की उपेक्षा हुई। वस्तुस्थिति यह है कि राजस्थानी का इतना विशाल और विविधता पूर्ण साहित्य यहा की अपनी ऐतिहासिक व सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे भाषा व शैलीगत विशेषताओ को लेकर अवतरित हुआ है कि उसका अलग स गहन अध्ययन किया जाना आवश्यक है। ऐसा किये बिना हम अपने देश की एक बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्य-परम्परा का समुचित मूल्याकन नही कर पायेगे।

इसी उद्देश्य से हमने परम्परा के माध्यम मे काल-विभाजन के अनुसार कुछ महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने की योजना बनाई है। उसी दिशा मे यह विनम्र प्रयास भी किया गया है। प्रस्तुत अक में कुछ अज्ञात साहित्य और विवादास्पद रचनाओ पर ही प्रकाश डाला जा सका है। आशा है यह सामग्री राजस्थानी साहित्य के इतिहास की जानकारी के अलावा राष्ट्रभाषा हिन्दी और अन्यान्य सम्बन्धित भाषाओ के प्राचीन साहित्य के अध्ययन में भी उपयोगी सिद्ध होगी।

इस अक के विद्वान लेखको के सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हू। आशा है भविष्य की योजना को कार्यान्वित करने मे भी उनका यह बहुमूल्य सहयोग अवश्य मिलेगा।

—नारायणसिंह भाटी

मेघमाल भड्डुली

श्री अगरचन्द नाहटा

भाषा विचारों को अभिव्यक्त करने का महत्वपूर्ण साधन है। वैसे तो पशु-पक्षी भी ध्वनि और संकेत विशेष से अपने भाव प्रकट करते हैं पर प्रकृति ने मानव को मन और वाणी की महान शक्ति प्रदान की है। मानव ने उनके विकास मे अद्भुत प्रगति की। फलत. ज्ञान-विज्ञान में मानव सब से आगे बढ गया। लिपि के आविष्कार ने तो उन भावो को स्थायी बनाने मे और भी अधिक महत्व का काम किया और इसी का परिणाम है कि हजारो वर्ष पूर्व जो ऋषि-महर्षि एवं चिंतक हुए उनकी वाणी आज भी हमे प्राप्त है।

मानव की आदिम या मूल भाषा क्या थी, इसको जानने का कोई साधन उपलब्ध नही है पर मानव की भाषा में परिवर्तन होता ही रहा है। प्रदेश और समय के अतर से बोलियों मे इतना अतर हो जाता है कि उनके मूल का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। कई विद्वान प्राकृत को प्राचीन मानते हैं और कई सस्कृत को। इन दोनों शब्दो के अर्थ पर विचार करने से प्राकृत ही प्राचीन होना चाहिए। उसे सस्कारित करने पर सस्कृत नाम पड़ा होगा। फिर प्राकृत मे भी एकरूपता नही है। अत. उसके महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि प्रान्तीय भेद पाये जाते हैं। इनमे से शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश और उससे राजस्थानी भाषा का विकास माना जाता है। वि. स. ८३५ जालोर मे रचित 'कुवलय-माला' मे जो १६ प्रातीय भाषाओ मे को विशेषताओ के उदाहरण दिए हैं, उनसे राजस्थानी बोली ९वी शताब्दी से पहिले स्वतत्र रूप से उल्लेख की जाने योग्य हो गयी थी और उसका नाम मरु प्रदेश के नाम से 'मरु-भाषा' कहा जाता था, ज्ञात होता है।

११वी-१२वी शताब्दी से राजस्थानी साहित्य उपलब्ध होने लगता है और

आदिकालीन व राजस्थानी रचनाओं में भड्डली का भी महत्वपूर्ण स्थान है, पर अभी तक वह उपेक्षित ही रहा। हस्तलिखित प्रतियों का अवलोकन करते समय 'भड्डली' नामक ग्रन्थ की अनेकों प्रतियां जैन भंडारों में प्राप्त हुई, केवल मेरे संग्रह में ही उसकी १०-१२ प्रतियां हैं। उनसे यह तो निश्चित हो गया कि लोक साहित्य के रूप में प्रसिद्ध डंक या डाक और भड्डली के पद्य या वाक्य काफी प्राचीन होने चाहिएं। पर मेरे संग्रह में जो इसकी संवत् १६६६ की लिखी हुई प्राचीन प्रति थी उससे पहले की प्रति की खोज करते रहने पर भी कई वर्षों तक प्राप्त न हो सकी। इसलिए अब तक इसके संबंध में प्रकाश नहीं डाला जा सका।

गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज से प्रकाशित 'पत्तनस्थ प्राच्य जैन भांडागारीय ग्रन्थ सूची' में 'संघवी पाड़े' की ताड़पत्रीय प्रति नं० ११६ का विवरण पढ़ने पर यह तो निश्चित हो गया कि 'भड्डली वाक्य' जैसे पद्यों की परम्परा काफी प्राचीन है। सूची में 'गुर्वादिवार' का उद्धरण तो नहीं दिया गया पर उसे भड्डली सदृश बतलाया गया है। और शकुन-विचार, भूमि-ज्ञान विषयक जो पद्य उद्धृत किए गए हैं वे उपलब्ध भड्डली वाक्य रचना के जैसे ही हैं। यथा शकुन विचार:—

> वाम सियाली होइ सुह, दाहिए दुक्ख करेइ।
> पिट्ठट्ठिय बीहावणी, अग्गट्ठिय मारेइ॥
> वामी होविणु दाहिणी, जइ सूयरि गच्छेइ।
> तो आभरणविभूसिया, ककवितिय दावेइ॥

भूमिज्ञान—

> खत्तु खणेविणु पूरियइ, जइ मट्टी वड्डेइ।
> निद्धा भूमि सलक्खणी, फलु निवसतह देइ॥
> दर-उद्देहीं-कोलिय-किमि-कीडा-अलि सप्प।
> रक्खसभूमि भयावणी, घरि न वसिज्जइ व(ब)प्प॥

इन पद्यों से 'भड्डली' का रचना काल १४वीं शताब्दी के पीछे का नहीं है, निश्चित है। संभव है, वह ११वीं से १३वीं शताब्दी के बीच की रचना हो। यद्यपि ऐसे पद्यों की परम्परा इस से भी पहले से चली आ रही है। यह बात तो सूची में उद्धृत प्राकृत भाषा के ऐसे ही पद्यों से स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

डाक या भड्डली के नाम से प्रसिद्ध वर्षा-विज्ञान संबंधी पद्यों का प्रचार उत्तर भारत के अनेक प्रान्तों में बहुत अधिक रहा है। मैथिल, बिहार, उत्तर

१३वी शताब्दी से स्वतन उल्लेख योग्य रचनाएँ मिलने लगती हैं। पर ६ठी ८वी शताब्दी से अपभ्रंश का प्रभाव बढा और १२वी शताब्दी तक तो विशेष रूप मे रहा। इसलिए १५वी के प्रारभ तक की जैन एव जैनेतर राजस्थानी एव गुजराती रचनाओ म अपभ्र श का प्रभाव तो स्पष्ट है ही। १६वीं शताब्दी के प्रारभ तक अपभ्र श में अनेको ग्रथ लिखे जाते रहे हैं। राजस्थानी हिन्दी भाषा का विकास अपभ्र श से ही हुआ इसलिए जैन-अपभ्रंश रचनाओ का ठीक से अध्ययन किया जाय तो राजस्थानी व हिन्दी के विकास की आशिक रूप से भी उलझी हुई समस्या काफी हद तक सुलझ सकती है। १४वी शताब्दी की जिनदत्त चौपई नामक रचना मे अपभ्र श व हिन्दी के मिले-जुले से पद्य हैं। १३वी शताब्दी से राजस्थानी भाषा में स्वतत्र रचनाएँ मिलती ही हैं, इससे पहले की भी अनुसधेय हैं।

हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के प्रारभिक काल को वीर-गाथा-काल के नाम से सबोधित किया और कई वर्षो तक यही नाम प्रसिद्ध रहा। इस काल की जो रचनाएँ उन्होने एव मिश्र-बन्धुओ ने बतलाई थी उनकी ओर करीब ३० वर्ष पूर्व जब मेरा ध्यान गया तो मुझे ऐसा लगा कि 'वीर-गाथा-काल' यह नाम सार्थक नही है और इस समय की बतलाई जाने वाली रचनाएँ भी उस समय की नही हैं। सब से पहले 'पृथ्वीराज रासो' जो इस काल का सब से बडा महाकाव्य है और प्रधानतया उसी को लक्ष्य कर के 'वीर-गाथा-काल' की सज्ञा दी गई है। उसकी हस्तलिखित प्रतियो की खोज मैंने प्रारभ की क्योकि प्रकाशित सस्करण की भाषा १६वी शताब्दी के पहले की नही लगी। खोज करने पर उसकी लघु, लघुतम, मध्यम रूपान्तरो की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान और गुजरात में मुझे प्राप्त हुईं और उनका विवरण प्रकाशित किया गया। उसके बाद 'वीसलदेव रास' की भी २०-२५ प्रतियाँ अनेक स्थानो से प्राप्त कर के उनकी जाँच-पडताल की गई और उस के भी लघु, मध्यम और वृहद् तथा खड, विभक्त और अविभक्त रूपान्तरो का पता लगाया। 'खुमाण रासा' की प्रति को भी सर्वप्रथम पूना से प्राप्त कर के उसे १८वी शताब्दी का सिद्ध किया गया और 'सम्मत सार' को १६वी शताब्दी का निश्चित किया गया। इसी तरह वीर-गाथा-काल की प्रत्येक रचना पर यथासभव प्रकाश डाला गया और उस समय की राजस्थानी-जैन-रचनाओ का परिचय भी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका मे दिया गया।

आदिकालीन व राजस्थानी रचनाओं मे भड्डली का भी महत्वपूर्ण स्थान है, पर अभी तक वह उपेक्षित ही रहा। हस्तलिखित प्रतियो का अवलोकन करते समय 'भड्डुली' नामक ग्रन्थ की अनेको प्रतियां जैन भडारो में प्राप्त हुई, केवल मेरे संग्रह मे ही उसकी १०-१२ प्रतियां हैं। उनसे यह तो निश्चित हो गया कि लोक साहित्य के रूप मे प्रसिद्ध डक या डाक और भड्डुली के पद्य या वाक्य काफी प्राचीन होने चाहिऐं। पर मेरे सग्रह मे जो इसकी सवत् १६६९ की लिखी हुई प्राचीन प्रति थी उससे पहले की प्रति की खोज करते रहने पर भी कई वर्षो तक प्राप्त न हो सकी। इसलिए अब तक इसके सबंध में प्रकाश नही डाला जा सका।

गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज से प्रकाशित 'पत्तनस्थ प्राच्य जैन भाडागारीय ग्रन्थ सूची' मे 'सघवी पाड़े' की ताड़पत्रीय प्रति न० ११६ का विवरण पढने पर यह तो निश्चित हो गया कि 'भड्डुली वाक्य' जैसे पद्यो की परम्परा काफी प्राचीन है। सूची में 'गुर्वादिवार' का उद्धरण तो नही दिया गया पर उसे भड्डुली सदृश बतलाया गया है। और शकुन-विचार, भूमि-ज्ञान विषयक जो पद्य उद्धृत किए गए हैं वे उपलब्ध भड्डुली वाक्य रचना के जैसे ही हैं। यथा शुकुन विचार.—

वाम सियाली होइ सुह, दाहिण दुक्ख करेइ।
पिट्ठुट्ठिय बीहामणी, अग्गट्ठिय मारेइ॥
वामी होविणु दाहिणी, जइ सूयरि गच्छेइ।
तो आभरणविभूसिया, नकविंतिय दावेइ॥

भूमिज्ञान—

खत्तु खणेविणु पूरियइ, जइ मट्टी वड्ढेइ।
निद्धा भूमि सलक्खणी, फलु निवसतह देइ॥
दर-उद्देहा-कोलिय-किमि-कीडा-अलि सप्प।
रक्खसभूमि भयावणी, घरि न वसिज्जइ व(ब)प्प॥

इन पद्यो से 'भड्डुली' का रचना काल १४वी शताब्दी के पीछे का नहीं है, निश्चित है। सभव है, वह ११वी से १३वी शताब्दी के बीच की रचना हो। यद्यपि ऐसे पद्यो की परम्परा इस से भी पहले से चली आ रही है। यह बात तो सूची में उद्धृत प्राकृत भाषा के ऐसे ही पद्यो से स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

डाक या भड्डुली के नाम से प्रसिद्ध वर्षा-विज्ञान सवधी पद्यो का प्रचार उत्तर भारत के अनेक प्रान्तो में बहुत अधिक रहा है। मैथिल, बिहार, उत्तर

प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मालवा में तो इनका प्रचार है ही पर बगाल और आसाम में भी डाक के पद्य प्रसिद्ध हैं। इतने व्यापक प्रदेश में शताब्दियो तक प्रसिद्ध रहने के कारण भाषा में उन-उन प्रान्तो का प्रभाव पडना स्वाभाविक है और बहुत से पद्य इनके नाम से प्रसिद्ध हैं वे सभी इनके नही होकर अन्य लोगो द्वारा समय-समय पर उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिए गए है। इसलिए डाक और भड्डली के इन पद्यो की प्राचीनतम प्रति का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ, जिससे इनकी भाषा का और कौन-कौन से पद्य वास्तव में इनके रचे हुए हैं, निर्णय किया जा सके। गत २० वर्षो से भड्डुली की पचासो हस्तलिखित प्रतियाँ इधर-उधर के भडारो में देखने को मिली पर १७वी शताब्दी के पहले की लिखी हुई प्रति नही मिल सकी। ५-७ वर्ष पूर्व ऑग्यिन्टल इस्टीट्यूट, बडौदा से १६वी शताब्दी की लिखी हुई एक प्रति मिली जिसका प्रथम पत्र अप्राप्त है। उस प्रति मे केवल ६७ पद्य ही हैं जब कि अन्य प्रतियो मे २०० से अधिक पद्य मिलते हैं। इसलिए उस से भी प्राचीन प्रति प्राप्त करने के लिए खोज जारी रखी और आगम प्रभाकर, सौजन्यमूर्ति पूज्य मुनि श्री पुण्यविजयजी को पाटन आदि के भडारो एव उनके सग्रह म भड्डुली की जितनी भी प्राचीन प्रतिया हो, भिजवाने को लिखा। उन्होने कृपा कर के जो प्रतिया भिजवाईं उनम एक प्रति १५वी शताब्दी की लिखी हुई प्राप्त हुई जिसमे २०८ पद्य थे। उस प्रति को प्राप्त कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई क्योकि वर्षो का मनोरथ पूर्ण हुआ और खोज सफल हुई। मैंने मेरे भ्रातृज भँवरलाल की सहायता से अन्य प्रतियो के पाठान्तर लेने प्रारभ किये तो इस प्रति म प्राप्त बहुत से पद्य तो अन्य प्रतियो मे प्राप्त ही नही हुए और जो पद्य मिले उनमें बहुत अधिक पाठ-भेद होने से वह कार्य उस समय पूरा नही हो पाया, जिसे महोपाध्याय विनयसागरजी के सहयोग से पूर्ण कर के सादूळ राजस्थानी रिसर्च इस्टीट्यूट की ओर से अन्य कई रूपान्तरो के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

डाक और भड्डुली के सबध मे कई तरह के प्रवाद और मत प्रचलित हैं, उनम डॉ० उमेश मिश्र, श्री नरोत्तमदासजी स्वामी आदि के विचार कुछ तथ्य-पूर्ण हैं, उन्ही को सक्षेप मे यहाँ दिया जा रहा है। उसके बाद कुछ अन्य विद्वानो के मत देकर अपनी जानकारी प्रस्तुत कर रहा हूँ।

डॉ० उमेश मिश्र ने 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के सन् १९३४ के अक में 'मैथिली साहित्य' का परिचय देते हुए डाक के सबध में लिखा था कि 'सब से पहले

यह प्रश्न उठता है कि यह डाक कौन थे, इस संबंध में कोई भी निश्चित प्रमाण अभी तक नहीं उपलब्ध हुआ है। मिथिला में विशेष रूप से यह प्रसिद्ध है कि किसी समय में ज्योतिषशास्त्राचार्य वराहमिहिर अपने गाव से किसी एक राजा के पास जा रहे थे। रास्ते में सन्ध्या हो जाने के कारण उन्हें एक अहीर के घर रह जाना पड़ा। उस घर के मालिक ने इनका पूर्ण आदर किया और अपनी कन्या को इनके आतिथ्य-सत्कार करने के लिए नियुक्त किया। सयोगवश आचार्य ने उस गोप-कन्या मे गर्भाधान किया और उसे बहुत भरोसा देते हुए कहा कि इस गर्भ से एक बड़ा विद्वान पुत्र उत्पन्न होगा जो समस्त देश में अपना यश फैलायेगा। यह कह कर दूसरे दिन वराहमिहिर वहा से चल दिए। समय पाकर उस कन्या के गर्भ से एक सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ। उसके घर के लोगों ने ज्योतिषी द्वारा नवजात शिशु की जन्मकालिक ग्रह-स्थिति का विचार करवाया तो मालूम हुआ कि यह एक होनहार बालक है। यही बालक ५ वर्ष के होने के पहले से ही त्रिकालज्ञ होने का चिन्ह दिखाने लगा। क्रमश उसने १ लाख कहावतों के स्वरूप में ज्योतिष शास्त्र के विषयों को लेकर कविताओं की रचना की। यही कविता सग्रह डाक-वचन के नाम से मिथिला में प्रसिद्ध है।

इन कविताओं की आलोचना से यह मालूम होता है कि मिथिला के सग्रह के अनुसार इनका प्रसिद्ध नाम 'डाक' था। कभी कभी इन्हें लोग 'घाघ' भी कहा करते हैं। उक्त सग्रह में केवल चार ही बार घाघ का नाम आया है, किन्तु डाक का नाम तो सैकड़ो बार देख पड़ता है परन्तु मिथिलेतर प्रदेशों की प्रसिद्ध कहावतों को देखने से मालूम होता है कि इन कहावतों के रचयिता का प्रधान नाम घाघ ही है और इसलिए इन कहावतों के सग्रह का नाम प० रामनरेश त्रिपाठीजी ने घाघ और भड्डरी रखा है। मिथिला में ये डाक के नाम से प्रसिद्ध हुए, बिहार, सयुक्त-प्रान्त आदि स्थानों में घाघ के नाम से तथा मारवाड में डंक के नाम से इनकी ख्याति हुई। इसी प्रकार बगाल में इनकी प्रसिद्धि खाना के नाम से हुई और सभी स्थानों में इनकी कहावतें पूर्ण रूप से प्रसिद्ध पाई जाती हैं।'

डॉ उमेशजी ने डाक को मैथिल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने डाक की जाति और समय के सबध में विचार करते हुए लिखा है, डाक के वचनों को पढ़ने से यह मालूम होता है कि ये जात के अहीर थे। इसमें कोई भी सदेह नहीं है क्योंकि कम से कम २० बार 'कहयि गुआर', 'कह डाक

[illegible] गुआर', '[illegible] गुआर', 'पतल गुआर', 'सुन्दर डाक गुआर' इत्यादि का [illegible] । इस समाज म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रो के प्रत्येक [illegible] स्पष्ट सूक्ष्म विचार देख कर यह अनुमान करना पडता है कि यह ब्राह्मण को छोड कर अन्य जाति के नही हो सकते। ब्राह्मणो म ही इसी प्रकार की स्वाभाविक विद्वत्ता सदा से ही चली आ रही है। अहीर होते हुए डाक ऐसे प्रकाण्ड ब्राह्मणवत् विद्वान् कैसे हुए ? उक्त दन्तकथा क सहारे यह कहा जा सकता है कि डाक के पिता कोई विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण ही रहे होग।'

अब प्रश्न यह है कि इनका जन्म-समय क्या था ? भाषा की दृष्टि से बडी आसानी से मैं कह सकता हूँ कि १५ वी शताब्दी के पूर्व इनका समय नही कहा जा सकता है और इसके लिए एक मात्र प्रमाण ग्रन्थ के आधार पर यह देख पडता है कि यह १८ वी शताब्दी के पूर्व के रहे होगे। अत डाक का समय १५ वी शताब्दी के बाद और १८ वी शताब्दी के पूर्व का ही कहना होगा।

सन् १९४६ में 'राजस्थान-भारती' के प्रथम अक में प्रो नरोत्तमदास

एक कथा प्रसिद्ध है कि एक विद्वान् ज्योतिषी थे। वे तीर्थ यात्रा के लिए काशी गए हुए थे। वहा उनके ध्यान मे आया कि शीघ्र ही एक ऐसा योग आने वाला है जिसमे गर्भाधान होने से जन्म लेने वाला बालक विद्वान् होगा। अद्भुत विद्वान पुत्र की लालसा से ज्योतिषीजी घर को चल पडे पर शुभ दिन तक घर न पहुँच सके। उस दिन सध्या समय वे एक अहीर के यहा ठहरे। उस अहीर की कन्या युवती थी। ज्योतिषीजी ने उसी से विवाह कर लिया। इसी अहीर कन्या से डाक का जन्म हुआ।

एक दूसरी कथा के अनुसार डाक स्वय एक विद्वान ब्राह्मण थे। उन ने किसी अहीर कन्या से विवाह कर लिया था और इसी अहीर कन्या की सन्तान डाकोत नाम से प्रसिद्ध हुई।

डाक की स्त्री का नाम भड्डुली था जिसके भडली, भडरी, भड्डुरी, भाडरि आदि अनेक रूपान्तर मिलते हैं। डाक की बहुत सी उक्तिया भड्डुली को सबोधन कर के लिखी गयी हैं। इस प्रकार अनेक कहावतो मे भड्डुली का नाम आया है। राजस्थान मे पद्यो के अन्दर वक्ता की जगह सम्बोधित व्यक्ति का नाम देने की प्रथा है अर्थात् रचयिता अपना नाम न देकर जिसको सम्बोधन करता है, उसका नाम देता है। राजिया, भैरिया, किसनिया, जेठवा आदि के सोरठे इस बात के प्रमाण हैं। इसी प्रकार डाक की उक्तियो मे कही तो दोनो का नाम मिलता है जसे:—

डक्क कहै सुण भड्डुली, जळ विन प्रिथमी जोय।

और कही केवल भड्डुली का नाम मिलता है, जैसे—

तो असाढ मे 'भड्डुली', वरखा चोखी होय।

ऐसे पद्यो मे भड्डुली शब्द का अर्थ 'हे भड्डुली' होगा। इन पद्यो के अन्दर केवल भड्डुली का नाम देख कर कुछ लोगो ने भूल से भड्डुली को ही रचयिता समझ लिया और इन कहावतो को भड्डुली की कहावत कहने लगे। यहा तक कि सुदूर युक्त-प्रान्त मे जाकर भड्डुली स्त्री से पुरुष भी बन गयी। इसी प्रकार कई कहावतों मे 'सुण भड्डुली' की जगह 'कह भड्डुली' या 'कहै भड्डुली' तक हो गया।

श्री रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि भड्डुरी दो हुए हैं, एक युक्त प्रान्त मे और द्वितीय राजपूताने मे। युक्त-प्रान्त के भड्डुरी पुरुष थे और राजपूताने के भड्डुरी स्त्री। हमारी सम्मति मे उनका यह अनुमान ठीक नही। यद्यपि उन ने दोनो भड्डुरियो की कहावतें अलग दी हैं, पर देखने से पता

गुग्रार', 'वह सेस गुग्रार', 'कहल गुग्रार', 'सुन्दर डाक गुग्रार' इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इस सग्रह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रो के प्रत्येक कर्म के विधान के ऊपर सूक्ष्म विचार देख कर यह अनुमान करना पड़ता है कि यह ब्राह्मण को छोड कर अन्य जाति के नही हो सकते। ब्राह्मणो मे ही इसी प्रकार की स्वाभाविक विद्वत्ता सदा से ही चली आ रही है। अहीर होते हुए डाक ऐसे प्रकाण्ड ब्राह्मणवत् विद्वान् कैसे हुए ? उक्त दन्तकथा के सहारे यह कहा जा सकता है कि डाक के पिता कोई विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण ही रहे होगे।'

अब प्रश्न यह है कि इनका जन्म-समय क्या था ? भाषा की दृष्टि से बड़ी आसानी से मैं कह सकता हूँ कि १५ वी शताब्दी के पूर्व इनका समय नही कहा जा सकता है और इसके लिए एक मात्र प्रमाण-ग्रन्थ के आधार पर यह देख पड़ता है कि यह १८ वी शताब्दी के पूर्व के रहे होगे। अत: डाक का समय १५ वी शताब्दी के बाद और १८ वी शताब्दी के पूर्व का हो कहना होगा।

सन् १६४६ में 'राजस्थान-भारती' के प्रथम अक में प्रो नरोत्तमदास स्वामी ने राजस्थान की वर्षा सबधी कहावतें शीर्षक लेख 'सरस्वती कुमार' के नाम से प्रकाशित किया था। उन्होंने डॉ० उमेश मिश्र और रामनरेश त्रिपाठी के मतो की आलोचना करते हुए लिखा है,—'डाक वचन की भाषा के आधार पर डॉ० मिश्र उसका मिथिलावासी होना अनुमान करते हैं पर यह बडा निर्बल प्रमाण है। राजस्थान में डाक की जो उक्तियाँ मिलती हैं उनकी भाषा शुद्ध राजस्थानी है। पजाब में वह पजाबी हो गयी है और सयुक्तप्रात मे अवधी या पूर्बी। बात यह है कि मौखिक रूप में लोक-प्रचलित रचनाओ की भाषा, स्थान तथा समय के साथ-साथ सदा बदलती रहती है। अत केवल भाषा के आधार पर डाक को मैथिल या राजस्थानी या पजाबी कहना उचित नही जान पडता।'

राजस्थान मे डाकोत नाम की एक याचक जाति है। डाकोत लोग अपने पास पत्रा रखते हैं और लोगो को तिथि-वार आदि बताया करते हैं। वे राशि आदि का शुभाशुभ फल, दिशाशूल आदि ज्योतिष की छोटी मोटी बातें भी सुनाते हैं। ये अपने को डाक की सन्तान कहते हैं। डाकोत शब्द डाक-पुत्र का अपभ्रश है जिसका अर्थ है डाक के वशज (डाक-पुत्र>डाक-पुत्त>डाक-उत्त>डाक-उत>डाकौत>डाकोत)। पुत्र का अपभ्रश उत राजस्थानी भाषा मे सन्तानवाचक प्रत्यय बन गया है। जहा तक हमे मालूम हो सका है डाकोत लोग राजस्थान के बाहर नही पाये जाते। अत. हमारा अनुमान है कि राजस्थानी जनता में प्रचलित इस विश्वास में तथ्य है कि डाक राजस्थान का ही निवासी था।

ीत्पुरा मुनिश्रेष्ठो भार्गवो धर्म तत्पर ।
। पुत्रातितेजस्वी षडाचार्य इति स्मृत ॥ १
ीयो मर्कटाचार्य शुक्राचायस्य पुत्रक ।
ाचार्यस्यभवत्पुत्रा शकराचाय वाचक ॥ २
। बभूवशाडिल्य स्वनाम्ना स्मृतिकारक ।
ुत्रो डामराचायश्चिकित्सा निपुण सदा ॥ ३
। ज्योतिर्मये शास्त्रे निपुणा कृतवानसौ ।
ृता डामरी डक्का तच्छिष्या बहवोऽभवत् ॥ ४
रसा सनवत्तस्य भुने पचैव डिडम ।
तिस्य सुषेणश्च शल्यको मतिमास्तथा ॥ ५
ास्य इति विख्याता बभूवश्शास्त्र कोविदा ।
सुषेण शल्यको वैद्य वक्तुर्योयुत माम् ॥ ६
डक्का इति प्रतिख्याता कथिता शुक्रवशजा ।
तस्या कन्या मदतारय तेषा डक्क सज्ञक ॥ ११

'स्मृति-रत्नाकर' में लिखा है—

यद्दान दीयते लोके कर ग्रह विशुद्धये ।
तस्याधिकारण प्रोक्ता ब्राह्मण डक्कि सज्ञका ॥

भड्डली डक्क की पत्नी थी । इसके प्रमाण मे जैन विद्वानो की भड्डली की लिखी हुई कतिपय प्रतियो के प्रारभिक पद्य विशेष महत्व रखते हैं । अनूप सस्कृत लायब्रेरी मे स० १७३० की लिखी हुई 'मेघमाला — भड्डली वाक्य' एक जैन विद्वान् की लिखित एव सग्रहीत प्रति है, उसमे 'मेघमाला' के प्रारभ करने से पहले निम्नोक्त तीन श्लोक लिखे मिलते हैं —

तियसिंद नदिद नय पणमितु जिणेसर महावीर ।
वुच्छामि मेघमाला ज कहीयजिण वरिंदेण ॥ १
गगनस्य च्छलग्राही, पुरा डकाभिधो द्विज ।
भडल्या निज भार्याया पुरो ज्योतिषमब्रवीत् ॥ २
भडल्याग्रे पुरा प्रोक्त ज्योतिज्ञानमनेकधा ।
योव गच्छति मेधावी स प्राप्नोति यशोधन ॥ ३

बीकानेर के उपाध्याय जयचदजी के भडार एव हमारे सग्रह मे 'भड्डली-पुराण' की ३-४ प्रतिया हैं, उसमे उपरोक्त 'मेघमाल' (भड्डलिया) के प्रारभ होने से पूर्व निम्नोक्त दो दोहे लिखे मिले हैं —

सकल लिंग माहि जाणियें, एकलिंग परसिद्ध ।
ऋषीश्वर मै मूलगो तूठो डकज मड ॥ १

त्रिभुवन माता माडली, वीभासण परतख।
इक बमण परणावियो, भडल नारि प्रसिद्ध ॥ २

'मेघमाला' के प्रारभिक पद्य से भी यह निश्चित होता है कि इसकी रचना से पहले 'ग्रहनक्षण का चरित्र' कहा गया था। उसके वाद 'मेघमाला' की रचना हुई है —

मइं तुह आगइ मुह कही, 'गह नक्खत्त चरित्तु'।
मेहमाल हिव निसुणि घणि, भड्डुलि थिरु करि चित्तु ॥ १

डक्क और भड्डुली के प्राप्त पद्यो मे—बहुत से पद्यो मे भड्डुली का ही नाम आता है, कुछ पद्यो मे डक्क और भड्डुली दोनो का ही नाम आता है और कुछ मे दोनो का ही नाम नही है। ऊपर दिए हुए प्रारभिक पद्य से इस रचना का नाम 'मेघमाल' या 'मेघमाला' सिद्ध होता है, पर अनेक प्रतियो मे 'भड्डुली वाक्य' या 'भड्डुली पुराण' नाम भी दिया गया है। मैंने जो पचासो प्रतिया देखी हैं उनमे एक-दूसरे की नक्ल की गई हो, ऐसी प्रतिया बहुत कम मिली हैं। अधिकाश प्रतियो मे पद्यो का क्रम और उनकी सख्या भी भिन्न-भिन्न है। इसलिए सभव है लेखको ने लोक मुख से सुन कर अपने-अपने ढग से सग्रह किया हो और इसी कारण पद्यो मे पाठभेद भी बहुत अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ प्रारभ के केवल तीन पद्यो को पाठभेद के साथ नीचे दिया जा रहा है।

मइ[१] तुह[२] आगइ[३] सुह[४] कही, गह[५] नक्खत्त[६] चरित्तु[७]।
मेहमाल[८] हिव[९] निसुणि घणि[१०], भड्डुलि[११] थिरु[१२] करि चित्तु[१३] ॥ १

पाठभेद—[१]अ. बी मइ अज मे। [२]अ तु., अज तुभ। [३]अज० आगलि। [४]पु. कहिउ सुह, अ सुकह कहि, बी सहु कह्यउ अज सुह कहिउ। [५]अ. अज० ग्रह। [६]पु रिक्ख, अ नक्षत्र। [७]पु बी चरित्त अ विचार। [८]बी अज मेघमाल। [९]पु निसुणहि अज हवइ। [१०]अ. धुणि, बी अज धण। [११]अ. भडलि, बी भड्डुल अज भडल। [१२]पु अ थिर, बी वस, अज वसि। [१३]पु बी. अज. चित्त, अ. वास।

कत्तिय[१] मासह[२] गयणयलु[३], हूय[४] रत्तुप्पल वन्नु[५]।
ता[६] जाणेजे[७] भड्डुली[८], जलहर[९] हूअउ[१०] फुल्ल ॥ २

पाठभेद— [१]पु कतिअ, अ. कित्तिय, बी कानी, अज कातिग। [२]अज मासा। [३]पु. गयणयल, अ गगनतल, बी. गयणियइ। [४]पु. अ. बी हुई अज हुवइ। [५]पु बी वन्न, अ वान अज वर्ण। [६]पु तो अज. तु। [७]पु जाणिज्जे अ जाणंतु अज तु जाणी। [८]बी नरवरह, अ अज भडली। [९]जलहरि बी जलिहर अज जहर। [१०]पु बी. महाखम, अ उभरि प्रान्धान अज निजत।

मागसिरि[१] जइ[२] जलु[३] पडइ[४], न्हायउ[५] जलहरु[६] मुद्धि[७]।
होउ[८] गब्भु मब्भति[९] धरि[१०], तुह[११] धहिउ हिय सुद्धि ॥ ३

पाठभेद— [१]अज मागिसिरें। [२]अ. अज जु. पु जइ नवि। [३]अ जल। [४]अज. करें। [५]अ. अज. नाह्विउ। [६]पु जलह अ. अज. जलहर। [७]अज मुप। [८]पु अ हुअ गब्भ, अज होई गर्भ। [९]अ भमत। [१०]पु वर। [११]पु मइ जपिउ तुह मुद्धि, अ मइ अखी तुह वधि, अज मैं भाख्यो तु वांधि।

भड्डली वाक्यो की कुछ सटीक प्रतिया भी मिलती हैं और एक गद्यानुवाद भी मिला है जिसे श्री शिवसिंह चोयल ने मरुभारती म प्रकाशित किया है। सस्कृत में अनेक ऋषियो आदि की मेघमालसज्ञक रचनाएँ प्राप्त हैं और वर्षा एव वायु-विज्ञान सम्बन्धी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, उसका परिचय फिर कभी दिया जायगा। 'वर्षबोध' आदि मे भड्डली के पद्य भी उद्धृत मिलने हैं।

राजस्थान में प्रचलित वर्षा सबधी पद्यो में भड्डली के नाम का निर्देश सब से अधिक हुआ है पर मिथिला, बगाल, आसाम में डाक की ही अधिक प्रसिद्धि है जो कि डक्क का ही रूपान्तर है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या से इस सबध में पूछने पर उत्तर मिला है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

'बगाल में लोकतत्त्व की अभिव्यक्ति लिए हुए पर्याप्त कविताएँ प्राप्त होती हैं, इनमें ऋतु कृषि, ज्योतिष, और मानव चरित्र का निरीक्षण है। इन्हें डाक और खाना इन दो व्यक्तियो के नाम से वर्णित किया जाता है। खाना प्राचीन भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की पुत्र-वधू के रूप में सम्मानित हैं। हम डाक के सबध मे कुछ नही जानते। और भड्डली का नाम भी डाक के साथ नही जोडा जाता। वास्तव में भड्डली बगाल में अपरिचित हैं। डाक की कहावते (चर्चाएँ, किंवदन्तिया) बिहार और आसाम में अभी भी प्रचलित हैं। डा० दिनेशचद्र सेन के 'बगसाहित्य परिचय' भाग १ मे आपको डाक सबधी चुनी हुई अच्छी सामग्री मिलेगी। यह बगाली कविताओ का एक वृहत् सग्रह है जो कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ था और सभवत अब अप्राप्य है। डा० दिनेश सेन की 'बगाली भाषा और साहित्य का इतिहास' मे आपको डाक सबधी भी कुछ विवरण मिलेगा।

कभी कलकत्ते के अच्छे प्रेसो से डाक और खाना के छोटे-छोटे सग्रह बिकते थे। अब लोगो की रुचि भी इनसे उतरती जा रही है और ये अप्राप्य हैं अत छप भी नही सकते। आपको डा० सेन की किताब से आवश्यक सूचना प्राप्त हो सकेगी और आसामी साहित्य का इतिहास भी इसमें सहायता करेगा।

बगाली साहित्य का सर्वोत्कृष्ट इतिहास मेरे शिष्य डा० सुकुमार सेन (प्रो० कलकत्ता विश्वविद्यालय) का है। यह चार भागो मे है। आप चाहें

तो लिख कर मँगा लें।

कलकत्ता से 'डाकार्णव' नामक ग्रंथ डाक्टर नगेन्द्रनारायण चौधरी का सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ है। उसमें तो लिखा है कि डाक किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही है। यह तिब्बती भाषा का शब्द है जिसका सामान्यत अर्थ तिब्बती भाषा के ग्डग (Gdag) शब्द का अर्थ प्रज्ञा अथवा ज्ञान होता है।

अभी-अभी सम्मेलन पत्रिका, भाग ४६ अ ४ में श्री दयाशकर पाडेय का लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे वे लिखते हैं—

'प० हसकुमार तिवारी ने अपनी पुस्तक 'बगला और उसका साहित्य' में लिखा है—डाक और खना के वचन मे ज्योतिष तथा क्षेत्र-तत्व की बातें भरी पडी हैं, साथ ही उनमे मानव-चरित्र की व्याख्या भी देखने को मिलती है। डाक को बगला का सुकरात कहा जाता है। कहते है कि जन्मते ही डाक ने अपनी माँ को पुकारा था, इसलिए उसका नाम डाक पडा। बगला भाषा मे डाक का अर्थ पुकार होता है। कुछ विद्वान डाक का जन्म आसाम के 'लोहिडागरा' मे बतलाते हैं जो आज भी लोहू नाम से मौजूद है, किन्तु नवीन खोजो से पता चलता है कि आसाम का डाक कुम्हार था जबकि बगाल के डाक जाति के गोप (ग्वाले) थे। आसाम, उडीसा, बगाल तथा बिहार तक मे डाक के वचन कहे और सुने जाते हैं। इनके समय के विषय मे भी प्रामाणिक तौर पर कुछ कहा नही जा सकता। इनकी भाषा को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि इनके वचन तब के हैं, जब बगाल बनने के क्रम मे था। सक्षेप मे कहा जाय तो इसमें वास्तविक बगला भाषा की प्राक-प्रचेष्टा के निदर्शन हैं।'

तिवारीजी आगे लिखते हैं—'यह तो विश्वसनीय नही लगता कि यह व्यक्ति-विशेष का ही दान है। बौद्ध युग मे सिद्ध हो कर कुछेक पद बना लेने वाली को *'डाकिनी' कहा जाता था। यह डाक शायद उसी का पर्यायवाची शब्द हो।* वास्तव में यह जातीय सम्पत्ति है और जाने-अनजाने इसमें हर व्यक्ति का सहयोग है।'

श्री आशुतोष भट्टाचार्य भी अपने वृहद ग्रन्थ 'बांगलार लोक साहित्य' में लिखते हैं—डाक किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। तिब्बती भाषा में डाक शब्द का अर्थ होता है प्रज्ञा या ज्ञान। इस आधार पर डाक के वचन का शाब्दिक अर्थ हुआ ज्ञान की बातें (Words of wisdom)। बगाल, आसाम तथा उडीसा तीनों ही स्थानों में डाक के वचनों का अत्यधिक प्रचार प्रसार है। इन

तीनों ही प्रदेशों के कृषिजीवी समाज में इनका एक विशिष्ट व्यावहारिक मूल्य है। इसलिए बहुत प्राचीन समय से श्रुतिपरम्परा द्वारा आज भी ये प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इनके वचनो को बगला के प्राचीनतम साहित्यिक प्रयास के रूप में स्वीकार करते हैं।

श्री सुकुमार सेन अपनी पुस्तक 'वांगलार साहित्येर कथा' में लिखते हैं— डाक के वचन बगला के प्रारंभिक रूप में हैं जब वह प्राकृत की केंचुल छोड़ कर खड़ी होने के क्रम में थी। उदाहरणार्थ,—

बुन्ढा बुढिया एडिब लुण्ड। आगल हैले नियारिब तुण्ड॥

डाक की रचनायें पढ कर कभी-कभी यह शंका होने लगती है कि डाक वस्तुतः बगाल के कोई विशेष व्यक्ति अथवा जन-कवि थे। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारे चिरपरिचित घाघ ही बगाल में पहुंच कर डाक बन गये हों? और यदि दोनों वस्तुतः दो भिन्न व्यक्ति थे तो दोनों के साहित्य में अनायास मिलने वाले साम्य का अध्ययन सचमुच आश्चर्य की वस्तु होगी और इन दोनों का तुलनात्मक विवेचन न केवल दो भिन्न प्रान्तो को समीप लायेगा बल्कि वह भारतीय जीवन की अटूट एकता का परिचायक सिद्ध होगा। साथ ही भाषा, रीति-नीति एव आचार-विचार मे कुछ भिन्न दो प्रान्त एकता और आत्मीयता के सूत्र में कुछ और मजबूती से बँध जायेंगे। डाक तथा घाघ की रचनाओं मे आश्चर्यजनक साम्य के कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं।

डाक कुगृहिणी का लक्षण बतलाते हुए एक स्थान पर लिखते हैं:—

घरे आखा बाहरे राधे, अल्प केस फुलाइया बाधे।
घनघन चाय उलटि घाड, डाक बलें ए नारि घर उजाड़॥

अर्थात् चूल्हा तो घर रहा, रसोई बाहर बनाती है। थोडे से बाल हैं उन्हे फुला-फुला कर सँवारती है। बार बार गर्दन घुमा कर इधर-उधर निहारती है। यदि ऐसी स्त्री मिली तो घर उजाड समझिए।

चरित्रहीन नारी का लक्षण बतलाते हुए डाक पुनः कहते हैं:—

नियड पोखरि दूरे जाय, पथिक देखिले आउडे चाय।
पर सभाये बाटे थिके डाक बले ए नारि घरे ना टिके॥

अर्थात् पोखर पास रहने पर भी पानी लेने के लिए दूर जाती है, बटोही को तिरछी चितवन से देखती है, बाहर खडी-खडी बेगानों से बातें करती है;— डाक कहते हैं कि ऐसी स्त्री घर में कभी नहीं टिक सकती।

अब कुलक्षणी तथा चरित्रहीन स्त्रियो के लिए घाघ क्या कहते हैं, सुनिए

> साँझे ते परि रहती खाट, पडी भडेहरि बारह बाट।
> घर आगन सब घिन घिन होय, घग्घा तजौ कुलच्छनि जोय ।।
>
> *
>
> परमुख देख अपन मुख गोवै, चूरी ककन बेसरि टोवै।
> आचर टारि के पेट दिखावै, अब ''''''का ढोल बजावै ।।
>
> *
>
> उलटा बादर जो चढै, विधवा खडी नहाय।
> घाघ कहै सुन घाघिनी, वह बरसै वह जाय ।।

उपर्युक्त उद्धरणो से डाक और घाघ के वचनो में मिलने वाला अनोखा साम्य उल्लेखनीय है और यह इस सत्य का उद्घाटन करता है कि भारतीय गावो का हृदय दीर्घकाल से अपनी-अपनी भाषा में एक ही चिरन्तन भाव प्रकट करता आ रहा है। एक ही भाव थोडी बहुत वेष-भूषा बदल कर सम्पूर्ण भारतीय जीवन में अटूट भाव से शताब्दियो से चला आ रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि डाक तथा घाघ के वचनो का प्रामाणिक सग्रह तैयार कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

वास्तव में ही उत्तर भारत के सभी प्रान्तो में डाक एव भड्डरी के जो वर्षा सबधी पद्य प्रसिद्ध हैं उन सबका प्रयत्नपूर्वक सग्रह किया जाकर तुलनात्मक एव विवेचनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये। बीच में मैंने सुना था कि उत्तर प्रदेश सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील है पर अभी तक उसका परिणाम प्रकाश में नही आया। घाघ, खाना, सतदेव आदि के पद्य एव कहावतो का सकलन किया जाकर वास्तविकता का पता लगाना आवश्यक है। लोक साहित्य से भारत को ही नही, विश्व की एकता को बल मिलता है और डाक एव भड्डली वाक्य आज लोक साहित्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। ग्रामीण एव कृषक लोगो को वे वाक्य बहुत ही उपयोगी एव लाभप्रद प्रतीत हो रहे हैं। विद्वानो की राय में घाघ तो १७-१८ वी शती में हुए हैं पर डाक व भड्डली तो १५ वी से पहले की मेरी खोजो से सिद्ध हो चुके हैं।

डा० शिवगोपाल मिश्र ने 'विज्ञान' मई ५८ के अक में 'भारतीय कृषि का विवरण' नामक लेख प्रकाशित किया है। उसमें घाघ एव भड्डरी के उद्धरण देते हुए इन दोनों की जन-श्रुतियो पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। पाठक उक्त लेख को पढ़ कर विशेष जानकारी एव इनके वैज्ञानिक महत्व की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

भड्डली को प्रतियां एवं प्रकाशित संस्करण

भड्डली की न्यूनाधिक पद्यो वाली पचासो प्रतियां मिलती हैं जिनमें १८वी, १९वी शताब्दी की लिखी हुई अधिक हैं। १७वी की भी कुछ मिली हैं पर इससे पहले की तो दो-चार प्रतिया ही प्राप्त हो सकी है। मुनि पुण्यविजयजी वाली सब से प्राचीन प्रति कागज और लिपि को देखते हुए १५वीं शताब्दी की है पर उसमें सवत् का उल्लेख नही है। सौभाग्य से अभी जोधपुर जाने पर लोकहिताचार्य की ज्योतिष सबंधी 'स्वाध्याय सग्रह पुस्तिका' की प्रति सवत् १४२९ की लिखी हुई मिली है। उसमें भी भड्डली के कई पद्य है। इससे इन पद्यो की प्रसिद्धि स० १४२० के पहले भी अच्छे रूप में हो गई थी, निश्चित होता है। मुनि जिनविजयजी के पास जयपुर में एक प्राचीन (१५-१६वी की) सग्रहीत प्रति के कुछ बीच के पत्र देखे थे, उनमे भी भड्डली के कुछ पद्य थे। जिस प्रकार जैन विद्वानो ने भड्डली वाक्यो का समय-समय पर सग्रह किया उसी तरह एक बुधमान सारस्वत ब्राह्मण ने भी सग्रह किया था। उसकी प्रति दिगम्बर ठोलिया मदिर, जयपुर से प्राप्त हुई है, जिसमें ३१६ पद्य है। आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि—श्री गुरु प्रणमु सारद माय, गणपतजी के लागूं पाय।
जो समयो भइ दीखै मग, तैसो सवण जु कहिये सग॥
प्रथम कहै इण ग्रन्थ को, ज्योतिष सबै जु देखि।
लाभ अनाभै वर्ष को, कहै सवण सविशेष॥

अन्त— भाडलि वायक ग्रथ जे, भणसी चतुर सुजाण।
ते आगम कैसी सदा, इम बोलै 'बुधमान'॥ ३१५
सारस्वतेन विप्रेण, बुद्धमानेन धीमता।
परोपकारणार्थाय, सग्रह सारमुत्तमम्॥ ३१६

इति भड्डली विचार—सवत को समया को विचार।

प्रकाशित सस्करण—इसका सर्वप्रथम प्रकाशन मेरी जानकारी में स० १९२७ म मिश्र भगवानदास ने 'शगुनावलि' के नाम से किया था। उसमें इसे सहदेव-भड्डली कृत बतलाया था। सहदेव के ज्योतिष और वर्षा सबधी पद्य जयपुर वाली उपरोक्त प्रति मे भी मिलते है। श्री रामनरेश त्रिपाठी की घाघ और भड्डरी के अतिरिक्त श्री रामलग्न पाडेय की भी इसी नाम की पुस्तक हिंदी साहित्य मदिर, बनारस से प्रकाशित हुई है। श्री कृष्ण शुक्ल की घाघ और भड्डरी की कहावत, पं० सीतलाप्रसाद तिवारी की खेती की कहावतें, श्रीचंद

जैन] आदि के ग्रंथ भी प्रकाशित हैं। स्वामी नरोत्तमदासजी ने 'राजस्थानी' भाग २ में इन वर्षा सम्बन्धी कहावतों को प्रकाशित किया था। डा० उमेश मिश्र ने हिन्दुस्तानी में डाक के मैथिल पद्यों को छपवाया था। वैसे 'मैथिली डाक' और 'डाक वचनामृत' भाग १-२-३ भी मैथिल प्रदेश में छपे हैं। बीकानेर के डा० जयशंकरजी ने वर्षा विज्ञान सम्बन्धी कहावतों का अच्छा संग्रह किया है। उनका एक लेख 'राजस्थान भारती' में छपा है। १७-१८ वी सदी में हिन्दी पद्य-बद्ध 'मेघमाला' 'संमतसार' आदि कई ग्रंथ-रचनाएँ हुईं जिनमें जैन कवि मेघ रचित 'मेघमाला' छप चुकी है।

अचलदास खीची री वचनिका : एक विश्लेषण

डा० हरीश, एम ए., डी. फिल्.

लौकिक काव्यो मे १५वी शताब्दी की एक विशिष्ट कृति 'अचळदास खीची री वचनिका' है। यह कृति प्राचीन राजस्थानी की है। इस कृति की हस्तलिखित प्रति अनूप सस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर मे सुरक्षित है। पूरी रचना एक ऐतिहासिक काव्य है जिसमे कवि ने बात शैली का प्रयोग किया है। काव्य की भाति बात शैली के अतर्गत आने वाला इसका गद्य भाग भी महत्वपूर्ण है जिस पर आगे प्रकाश डाला जायेगा। पहले कृति के काव्य भाग का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अचळदास खीची री वचनिका के रचयिता श्री शिवदास हैं। शिवदास चारण थे तथा राज्याश्रय मे रह कर ही उन्होंने यह वचनिका लिखी। कोटा राज्य के अतर्गत गागरोण के शासक श्री अचळदास ही इनके आश्रयदाता थे। कवि शिवदास का समय टॉड तथा तैस्सीतोरी स० १४७५ मानते हैं और मोतीलाल मेनारिया स० १४८५। जो भी हो, यह निर्भ्रांत है कि रचना १५वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के तृतीय चरण की है। इस रचना की प्रतिलिपि अभय जैन ग्रथालय मे भी है। रचना १२१ छन्दों मे पूरी हुई है।

अचळदास खीची री वचनिका शौर्य और मान-मर्यादा से अनुप्राणित वीर-रस-प्रधान काव्य है जिसमे कवि शिवदास ने अपने आश्रयदाता के स्वय युद्ध मे उपस्थित रह कर यथार्थ से गहरा सम्बन्ध रखने वाले आखो देखे रोमाचक चित्र उपस्थित किए हैं। कृति का कथा भाग इस प्रकार है—

'प्रस्तुत वचनिका एक युद्ध-प्रधान खण्ड-काव्य है, जिसकी कथा ऐतिहासिक है। पूरे काव्य मे कृतिकार ने अचळदास की आदर्श वीरता के चित्र उतारे हैं। माडू के मुसलमान सुल्तान ने गागरोण को अपने अधिकार मे करना चाहा।

उसने अचळदास को अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। राजपूती खून उबल पडा। मर्यादा की मुस्कान और जननी जन्मभूमि की रक्षा मे राजपूत तत्पर हो गये। अचळदास ने युद्ध के लिए ललकारने का सदेश भेजा तथा आक्रमण को रोकने के लिए किले के द्वार बद करवा दिए। दोनो दलो मे घोर युद्ध हुआ। भयकर मारकाट के पश्चात् अचळदास स्वय वीर गति को प्राप्त हुए। अचळदास के बलिदानी रक्त से भूमि रग गई। शेप सभी राजपूतो ने उस जौहर मे अपने प्राणो की आहुति दी। कवि श्री शिवदास चारण भी युद्ध में अपने आश्रयदाता के साथ थे। अन्य सभी राजपूतो को जौहर करना पडा परन्तु राजकुमारो के जीवन-निर्माण के लिए तथा अपने आश्रयदाता की इस वीर गति को वाणी देकर अमर कर देने के लिए शिवदास को जौहर से मुक्त होना पडा और क्योकि यह युद्ध सं० १४८५ के आसपास ही हुआ था, अत. अनुमानत रचना का सृजन भी इसी काल मे हुआ होगा।'

अचळदास खीची री वचनिका का कथानक इस दृष्टि से दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। एक तो युद्ध भाग और दूसरा जौहर। इतिहास से तो सामान्यत कई भ्रम फैलाए जा सकते हैं, परन्तु कवि शिवदास ने स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक सत्यो की रक्षा कर कृति का महत्व और अधिक बढा दिया है। यही नही, उसने अपनी अभिव्यक्ति को ईमानदारी से वाणी देने के लिए माडू के बादशाह की सेना का वर्णन पहले किया है। ऐतिहासिकता तथा वीरगाथात्मकता का वर्णन करने वाली यह वचनिका अपने ही प्रकार की अनूठी रचना है।

पूरी कृति कविता और बात दोनो शैलियो मे लिखी गई है। यो वचनिका भी राजस्थानी गद्य की एक शैली विशेप ही है। बात शीर्षक से कवि ने जहा-जहा रोमाचक चित्र खीचे वे इसके गद्य की सजीवता के जागरूक उदाहरण हैं। पूरी रचना चारण शैली मे लिखी गई है। यो भी तत्कालीन रचनाएँ चारण और जैन इन दो शैलियों में विभक्त की जा सकती हैं। अजैन लेखको ने जैन शैली में और वृद्ध जैन लेखको ने चारण शैली मे भी लिखा है। परन्तु अधिकतर जैन लेखकों ने वर्णन की चारण शैली नही अपनाई और इस ओर उदासीनता रखने से ये जैनेतर लेखको से अपेक्षाकृत इस क्षेत्र मे शिथिल दिखाई पडते हैं।

अचळदास खीची री वचनिका इस दृष्टि से चारण शैली में लिखा एक सफल काव्य है जिसमे कवि का गद्यात्मक काव्य और काव्यात्मक गद्य का सशक्त रूप परिलक्षित होता है। १५वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऐसी कृतियो

का मिलना आदिकालीन साहित्य की श्रीवृद्धि में एक महत्वपूर्ण चरण का प्रतिष्ठापन है।

पूरी रचना काव्य, गाहा, दूहड़ा तथा गद्य, वात आदि में लिखी गई है। रचना अद्यावधि अप्रकाशित थी, परन्तु श्री नरोत्तमदास स्वामी ने इसका सम्पादन कर इस कृति के पाठ का उद्धार किया है। इस दृष्टि से स्वामीजी का प्रयास अत्यन्त प्रशसनीय है।

काव्य-सौष्ठव

रचना का प्रारंभ, कवि युद्ध की स्वामिनी महिषासुरमर्दिनी महादेवी भैरवी तथा सरस्वती दोनों को नमन कर के करता है। कवि ने सरस्वती से पहले दुर्गा को सिर नवाया है। इससे काव्य की युद्ध-प्रधान प्रवृत्ति और चारण शैलीपन स्पष्ट होता है। रचना की प्रारंभिक वंदना देखिए—

> तउ बीस हथि विरोळि पँ बीस हथ विरोळियइ
> भावठि भामँ तू तरगइ हिज्यो सुकाइ हीगोळि
> पउढिम परहसियाह आरंभकरि ऊपरि असुरू
> देवि दुवारि थियाह वैनतियाइत बीस हथि
> महिषासुरि जू माई मर जइ महिषासुर मरइ
> सुर छूटे सु साहिइ बार तुहारी बीस हथि
> जपइ तुहालइकाळि डहडहिया डमरू तरगा
> छाडे असुरि सु आळि तैं बाजा रथि बीस हथि
> रामाइरग ही रामि कीयौ जे हूती कन्है
> सकति विहूरगौ सामि विढरग न होई बीस हथि।

कवि सरस्वती को गीत, नाद गुणयुक्त तथा कवियों को दीप्त करने वाली कहता है तथा उसी की कृपा से इस कथा को ग्रंथ रूप में निबंधन करना चाहता है।

अथ गाहा

> तास पणवँ नमो चलणाइ वीरणा पुसितक धारणी कासमीर कंदरिवसंती
> गीत नाद गुण गाह दियरग देख कवियरग दीवत।
> साइ सारदा मनि सवरी बाधउ ग्रथ अपार
> सूरत रासउ अचळ कउ सउदाळँभ सिकार।—७

अचळदास की कथा ने कवि के काव्य-गुण मे सोना और सुगन्धि को साकार कर दिया है, ऐसा शिवदास का कहना है। गुणियों में श्रेष्ठ अचळदास ही शिवदास कवि का सच्चा मूल्यांकन कर सकता है। रचनाकार ने अचळदास के

विरोधी मांडू के सुल्तान की सेना का प्रारम में ही वर्णन किया है। एक उदाहरण प्रवाह के लिए देखिए—

अथ दूहडा

उत्तर दक्षिण देस, पूरब ने पच्छिम तणा
खडिया खडदलिम कटक, नमिया सकळ नरेस
हरकप हिकार, घर घर प्रति हूवी घणउ
मिळिये भडपराड, कइ कुण ऊपरई खघार
तें पतसाह तणोह, पायाणो पारभ सुणाह
हल्लिहल्लिहिया हैकाण ने गढपति गमे गमेह
तहि सचलने सूरू, धूघळियउ घर घमघमी
खीची दिस कीवा पयाण पुरू।—१०–१३

मुसलमान सैन्य के साथ-साथ कवि ने हिन्दू राजाओं के यश का भी वीररस-पूर्ण वर्णन किया है। रावराजा मृगेन्द्र की भांति शौर्यवान नृसिंहदास का कटक भी वर्णनीय था। कवि ने—अथ दूहा एक कुण्डलिया एक—लिख कर दोहे और एक कुंडलिया छंद में नृसिंहदास के कटक का वर्णन किया है। एक ही वन में निवास करने वाले मृगेन्द्र और हाथी के शौर्य की भला क्या तुलना ? हाथी तो विक कर गली गली घूमता है पर सिंह को इस मोल कभी कोई खरीद सकेगा ?

अथ दूहा एक कुण्डलिया एक

अकइ वनि वसनडा एवड अंतर काइ
सीह कवड्डी न लहै गैवर लाखि विकाइ
गैवर गळिइ गळथियौ जइ खचै तह जाइ
सीह गलथण जे सहै तउ दह लखि विकाइ
तउ दह लखि विकाइ मोल जाणवि मृग्गेरा
कडवा कारणि वयिन कोपि खडदानिम करा
थेडि कीध पडिया रनि हसि कटारउ दुहू कर
राइ न ग्रहण नरसप गळह गळहथ जउ गैवर।—१७–१६

युद्ध में खीची परिवार के समस्त सिंह आ जुडे। आसपास के राजा भी स्वामी पर आई इस आपत्ति को सहन करने को तय्यार नहीं थे। छत्तीस कुलों के सभी भाई जुड आए। हम्मीर की भांति युद्ध में अनेक हठी राजाओं ने आकर इस युद्ध-स्थल को सुशोभित किया। समस्त सैनिक अभय थे। एक दिशा से असुर चढ़ आया और दूसरी दिशा से मानो संपूर्ण परिवार ही समरांगण में अर्पित कर दिया गया। अचळेसर के साथी सैनिकों का कवि ने पर्याप्त सजीव तथा सरस वर्णन किया है।

आलम का अडसाळ ईखे गूडर आसना
गढ काना गढपति कन्है वृद्ध अस तरण बाळ
हव साहियो न होइ मरण हुवै गढ मेल्हिइ
आखइ अचळेरार हराउ सत गहुत मद कोइ
गढ गरवाइ गाव लेखउ जाइ लकाळ गइ
चादउ ही चालइ नही गढ तजि गोरी राव
ऊचा दुरग असेस छळि वळि किणी न छूटही
लीधा वळि लागी करि साहि आलमि सहि देस
जगणपुरस ज्यो ज्यो करइ, किसउ कलाकमार
तणी पटउळइ भाति कबही न पडइ काथळइ
सरि गोरी राव क्यो सरह जीहइ जाति न पाति
साहण लाख न सार पैदल पार न पामियै
गुडियै गोरी राव कहि मैगळ सबळ अपार
अचळेसर अपार दळ सजियौ दाणव तणौ
लका लेयणहार काय गोरी राव गागुरणि
आलम तइ आयाह विग्रह हुवै कीध विढणि
अचळेसर गढ अबछेड जीव ले मोकलि जाह
तउ तूवर दिसि ताणि त्रमि काइ कछवाह दिसि
अचळ अडे आलम सरिस मत आपरउ न आणि।—३२-४१

यही नही, शत्रु से कुल की लाज लोप न जाय इसलिए खीची-कुल के सभी सूरमा उत्साह मे चूर होकर प्रतिज्ञाएँ कर रहे थे । साथ ही अन्य सहयोगी राव उमराव अपने सहयोग को विभिन्न वीरतामूलक उक्तियो द्वारा स्पष्ट कर रहे थे। भाई भाई को छोड कर चला और बेटा बाप को छोड कर। अचळेश्वर कटक को लेकर आगे बढे। वर्णन मे उत्साह मात्र का प्राधान्य और चारण शैली का चमत्कार देखिए—

नवइ न खीची नीव गढ थी गढ मेल्ही करी
मह हुई उपरावठी, सीध गई तजि सीव
लेवै कुळ की लाज, लाज लोपि लोवेसवर
स्वामि कथन आई सुणण तणि मौजावुत भाज।—४४-४५

×

बहु बेघुक बरसत कोटे कछवाही कहै
तो माडोदोड सतहइ हइ कोसीसा कत
भलउ मत्र भडिवाह बोलइ साखुलि बागडणि
सउकि तणउ पीहर सदा हूँ नि सवादत नाह

नाह तणउ नर लाय मृत जाणियो महासतो
अनभेल्ही मेल्हउ उदक, तूडरिणि दिनि दोइ
अति लहवी तदि आप डरपायउ डरपी करी
चादउ ही चालह नही, बेटउ अब छडि बाप
नीमनियउ मनि माह भाई घरि भोजा तणइ
प्रजा कीध मन पाधरा मरण देखि मारिवाह
वपेता विरदइत छलि घरि कुली छनीस हो
चाल्या स्वामि समाणसी सउ माणस सालइत
एकि पाल्हा की पूठि, पूठि एकि पातल तणी
उलिगाणा आगी हुवा अत दिन वेळउ ऊठि।

कवि ने आलमशाह की सेना के हाथी, घोडे, पैदल आदि सभी की गणना अनुमानत प्रस्तुत की है। सुलतान मानो दूसरे अलाउद्दीन की भाति दिखाई पडता था।

वारं वारह लखन छवड पैंदल मदिमत्ति चवरासी मइगल
साहण सहस तीस अर तेरह आलमसाह अडीचउ फेरह। ६७

युद्ध मे दोनो दल आ जुडे। भयकर मोर्चाबदी हुई। राजपूतो की पोडमी रानिया अपने वीर पतियो के हाथो के असाधारण वारो को देख देख कर मुग्ध हो जाती थी। यही नही, बूढी रानिया, भोली अबलाएँ तथा प्रौढ स्त्रिया भी अपने-अपने देवर, जेठ, पति आदि के पुरुषार्थ को मुग्ध नयनो से देखती फिरती थीं। गागुरणि इस समय समरस्थली अथवा वैतालपुरी की भाति हो रही थी। युद्ध-स्थली का नायक अचलदास युद्ध भूमि मे छत्र चँवरसहित इस प्रकार का बाका वीर दिखाई पडता था मानो साक्षात हम्मीर ही बैठा हो। दोनो ओर की सेनाओ की समरागण मे मोर्चाबदी तथा भीषण मारकाट के वर्णन कवि की शौर्यपूर्ण, उत्साहपूर्ण अथवा सजीव अनुभूति के चित्र हैं। कवि ने योद्धाओ के वीरतापूर्ण भयकर मारकाट के अनेको साकार एव रोमाचक चित्र उतारे हैं। वर्णन की चित्रात्मकता तथा सजीवता कवि के रसावला एव गाहा छदो मे स्पष्ट दृष्टव्य है—

अथ रसावला

विहु छेडि बाणावळी, सर पुंडिग सळळी
भणी भणी अनुली, खग खगा खळी
रुधिर धार रळतळी, बहु नाचे कुमुध महाबळी
माळ भूं माळावली, मालम अचळे सर पडया विनैं इम सम्मळी
सदै हुए गुभरा, एक एक ऊपरी

लागइ लागइ खरी, ठाइ नह ठाठरी
दिन रात न जाणइ दूसरी, नींद भूख निस वीसरी
खींदाळि खीची खरी सैन विने इम संमिरी ।—७०-७१

अथ गाहा

इण परि सहस सहस देइ तूटं
पग पग अडं न पग अवहट्टं
आलम अचळ सैन अवहट्टं
कनक जिहि रहि रहि कसवट्टं ।—७२

अथ दूहड़ा

आलमि अचळेसरि पड़िया एही एक अवक्क
पिडि जेता हीदू पडै तेता सहस तुरक्क ।—७३

उक्त वर्णनों द्वारा रचना में वीर रौद्र तथा वीभत्स रस की निष्पत्ति स्पष्ट है। वर्णन की ध्वन्यात्मकता तथा अलंकारिता, विभिन्न दृष्टान्तों और वर्णनो की साकारता तथा चित्रात्मकता यथार्थ एवं साकार हो उठी है। युद्ध में शिवदास अचळेश्वर को छलकते प्याले पिलाते थे। उनकी ऐसी उक्तियां अनेक हैं, उदाहरणत: एक देखिए—

जस जावड मल जाह पूत न होइ पाहरू
तिण ताटी हर ताह जळियो जाइलहर धणी ।—८४

इस प्रकार युद्ध में विपक्षी दल का बहुत भयंकर सामना किया गया। रणक्षेत्र मे विभिन्न प्रयोगों द्वारा खीची के सैनिकों ने शौर्य दिखाया मानो झूम-झूम कर, मुड-मुड कर जुडे हुए किवाड खोल दिए गए हो। वर्णन कवित्त के अंतर्गत किया गया है। पाल्हणसिह के खेत रहते ही राय का हृदय भर आया, अश्रुधारा बह चली—

पाल्हणसी पुहविहि रहयौ अनि समह्या सगि
तिणि वेळा हीया भरी राइ राइ रोवण लगि ।—९०

अथ कवित्त

पाल्हो कउणइ पडै, कउण जम जातो वारै ?
कउणइ बज्र भेलियो, कउण सिरि बीज सहारइ ?
सवेर तिणि भवियै, आभ कु'ण कुंडळ भाणइ
उवह कवण उलंघइ, कउण जळ संख्या जोणइ
एतरी वात कुण आगमे, कउण जम सरिसौ जुडै
बालाउत वड दळ विकळ, कौण धणी वनि ऊहडइ ।—९२

भयकर मारकाट कर के राजपूतो के प्राणपण से युद्ध करने पर भी सुल्तान की सेना को विजय हाथ लगती दिखाई न पडी। डूगरसिंह, मोकलसिंह, पालणसिंह जैसे विकट योद्धाओ को भी मुसलमानो युद्धजन्य तरीको के सामने झुक जाना पडा। अचळेश्वर स्वय वीर गति को प्राप्त हुए पर मरते समय भी उनके कान में यही सुर थे—राजपूत पुरुष और स्त्रिया जीवित रूप में मुसलमानो को आत्म-समर्पण नही करेंगे। अन्त पुर से जौहर के धुएँ की लपटें मुसलमानो को इस हार का आत्मसम्मानपूर्ण करारा उत्तर देंगी—हुआ भी यही। कवि ने अचळदास की वीरोचित मृत्यु का तथा राजपूतो की इस धूमिल तथा अस्तगत स्थिति का मार्मिक वर्णन किया है—

चींतावियौ चहुवाणि जउहर की माडउ जुगति
हव हुवस्या हरपुर दिसा वगा वगि विहाणि।

×

हाडा खींची हेक सोलकी सूरिजवसी
सुणिसै मृत माहरौ सदा अवरे राय अनेक
सदा माइ मजगीम कहि, कहि अचळेसर कहै
वहु पह मूझ वखाणिस्यै, सुणिया वम छतीम।

और अत में कवि ने समस्त रानियो को जौहर की धधकती ज्वाला का शृगार कराया है। वर्णन का सौन्दर्य और वीर रस का कारुण्य दृश्य वहा प्रस्तुत होता है जहा सुमुखी पोडसी बालाएँ हँसती-हँसती जौहर कुड के स्फुलिंगो से अपनी माग को सजा लेती हैं। वर्णन का प्रवाह रचना के उत्साह को वीरोक्तियों का छलकता समुद्र बना देता है। जौहर का साकार, वीरतापूर्ण, रोमांटिक तथा स्पृहणीय वर्णन अत्यन्त सजीव है। काव्य-सौदर्य देखिए—

तइ खत्र खीचीं छोडि, नचणी लग लागी नही
उत्तिम मधिमा एक सक्कीधा जउहर कोडि
व्यामोहे वर वीर, घरि घरि सत देसै धपउ
आयौ राइहरि आपरइ समहरि अचळ सधीर
मोटे सत महिमाटि अचळमरि आय हुव
मींयण हरि हुई सापुलो वहुवात किरि विवाहि
वळा निणि व सुहागि घडहडतो घूमा पसइ
तणं अनवर उठिसी अगड्ड जाणं आगि।—१०१-१५

×

जउहर जालण हारि अनइ जळइ साइ ऊचरै
हरि हरि हरि हाई रहयौ विगन विगन तिणि वारि

पुहवि न पारावार गढ अनियं गावा तणा
सुर तेतीसइ सम घरणि दणियर देखणहार
सीधण हूँ छछोहि आमोलकि घरि आपणउ
जोहरि पाधउ जाळियो लहुयो आधो लोहि । ११०–११२

×

सातल सोम हमीर कन्ह जिम जौहर जाळिय
चढिय मेत चहुवाण आदि कुळवट उजाळिय
भुगुत चिहुर सिरि मडि वपि कठि तुळसी वासी
भाजाउति भुजबळहि करिहि करिमर काळासी । १२१

इस प्रकार कवि ने अचळदास की कीर्ति को अचल कर काव्य की समाप्ति की है।

गढि खडि पडति गागुरणि दिढ दाखे सुरिताण दळ
ससारि नाव आतम सरगि अचळ वेवि कीधा अचळ । १२१

रचना की प्रतिलिपि का प्रामाणिक वर्णन कृति की पुष्पिका मे मिल जाता है।[1] वस्तुत पूरा काव्य वीर रस की एक उत्तम निधि है जिसम कवि ने वीर-पूजा और जौहर द्वारा तत्कालीन समाज की पारस्परिक युद्ध नीति, राजपूतो की स्थिति, आत्मसम्मान की रक्षा के लिए जौहर एवम् मृत्यु-वरण तथा आदर्श युद्ध-प्रेम आदि प्रवृत्तियो को स्पष्ट किया है। वास्तव मे अचळदास खीची री वचनिका जीवटपूर्ण वीर-गाथा का जैनेतर काव्य है।

यह तो हुआ प्रस्तुत काव्य की काव्य-सुषमा का विश्लेषण। अब इसके गद्य भाग का भी सक्षिप्त अध्ययन यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

अचळदास खीची री वचनिका और उसका गद्य

अचळदास खीची री वचनिका का जिस प्रकार काव्य-ग्रथो में स्थान है ठीक उसी प्रकार इसका गद्य ग्रथो मे अक्षुण्य योग-दान है। चारण कविवर शिवदास ने काव्य की भाति इसमें गद्य का भी सुन्दर अभिनिवेश स्थापित किया

---

[1]सवत १६३१ वर्षे श्रावण सुदि ८ सोमदिने घटी १६ पल ३५ विशाखा नक्षत्र घटी २१।४४ ब्रह्मनामा योग घटी ५४।१० अचळदास खीची री वचनिका महाराजधिराज महारद्द श्री रायसिहजी विजैराज्य जोणिवाडा गाव मध्य महाराजधिराज महारद्द श्री जाधा तत्पुत्र वीदा तत्पुत्र राज श्री ससारचद्र तत्पुत्र श्री सागा तत्पुत्र राज श्री सावळदास लिखितम। आत्म पठनार्थं। शुभ भवतु। कल्याणमस्तु॥ श्री रामचद्रजी। (प्रतिलिपि लेखक को उपलब्ध हुई—अभय जैन ग्रथालय बीकानेर के सौजन्य से।)

हैं। अचळदास की वीर गाथा को श्री शिवदास ने गद्य मे प्रस्तुत कर रचना को जन-साधारण के लिए और भी बोधगम्य बना दिया है।

कृति का गद्य अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है तथा वचनिका शैली में लिखा गया है। वचनिका शैली गद्य की काव्यात्मक शैली होती है। अचळदास की यह वचनिका गद्य-सौन्दर्य को वाणी देने वाली अनूठी कृति है जिसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है।

अचळदास खीची री वचनिका में ठीक उसी प्रकार का गद्य भाग मिलता है जैसा पद्मनाभ के आदिकालीन राजस्थानी प्रबधकाव्य, महाकाव्य, कान्हडदे प्रबध में बीच-बीच में गद्य भाग मिलता है। यही नही, बल्कि ११वी शताब्दी में उपलब्ध रोडा या राउल कृत शिलालेख में भी[1] आधा भाग काव्य मे और आधा गद्य में उपलब्ध होता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित रचना में पद्य और गद्य शैलियो मे वस्तु-वर्णन या कथा-वर्णन करने की यह प्रवृत्ति उस काल में वर्णन की एक विशिष्ट शैली ही रही होगी।

अचळदास खीची री वचनिका का गद्य भाग—अथ वात वळे वात विरदावळी आदि शीर्षको के अतर्गत लिखा गया है। प्राचीन राजस्थानी के प्राचीन जैन-अजैन कवियो द्वारा प्रणीत वात और वचनिका शैली का यह साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि इस पर कई प्रबध लिखे जा सकते हैं। ये कृतिया वात, ख्यात और वचनिका नाम से हजारो की सख्या में उपलब्ध होती हैं तथा अद्यावधि अप्रकाशित हैं, जिनमें यह विशाल साहित्य रचा गया है।

अचळदास खीची री वचनिका गद्य और काव्य दोनो रूपो मे पर्याप्त सक्षम है। कवि ने इस वीर-पूजा काव्य को जिस प्रकार काव्य में सजोया है ठीक उसी प्रकार इसकी कथावस्तु को अत्यन्त स्पृहणीय ढग से गद्य में भी लिखा है। पूरी रचना की कथावस्तु में लेखक ने गद्य भाग में केवल मात्र युद्ध और सज्जा-वर्णन ही किया है। जौहर-वर्णन काव्य में किया गया है।

माडू के सुल्तान ने गागरोण (कोटा राज्य के अन्तर्गत) पर चढाई करदी। अचळदास एव उनके सहयोगी उप-शासक युद्ध मे हजारो मुसलमानो को मार कर वीर गति को प्राप्त हुए और उनकी स्त्रियो ने जौहर कुड की धधकती ज्वाला में प्रवेश कर वीरोचित गति को प्राप्त किया। राजा अचळदास खीची

---

[1] देखिए—हिन्दी अनुशीलन का धीरेन्द्र वर्मा अभिनदन ग्रथ १९६०, में डा० माताप्रसाद गुप्त का रोडा या राउल कृत शिलालेख शीर्षक लेख।

री इस यश-प्रशस्ति को चारण कवि एव बाती लेखक श्री शिवदास ने कृति को काव्य और वार्ता मे ढाला है। वर्ण्यवस्तु गद्य और पद्य दोनो विधाओ मे समान नही है। पद्य मे अधिक है। गद्य मे भी पद्य की भाति लेखक का अपने आश्रयदाता की युद्ध-कलाओ, वीरोचित निष्ठा तथा उत्साह-प्रधान उद्भावनाओ का आखोदेखा चित्रण है। गद्य का प्रवाह, उसकी चमत्कारिकता अत्यन्त सबल, सरस तथा धारावाहिक है। वर्णन-क्रम मे कही शैथिल्य नही है। पद्य की भाति गद्य मे भी वीर रस सर्वत्र एकरस व्याप्त रहता है। गद्य-वर्णन में कही-कही अतिशयोक्तिया और कल्पना-प्रधान अतिरजना मिलती है। इसका मूल कारण कृतिकार का मूलत कवि होना है। यो तो उसकी ऐसी कल्पना-प्रधान अति-शयोक्तिया उसकी काव्यात्मकता में भी देखी जा सकती है।

रचना मे लेखक ने पहले युद्ध की साजसज्जा का वर्णन किया कि आदर्श वीर वही है जो प्रबल शत्रु के आक्रमण का उत्तर उतने ही सशक्त रूप में दे। गद्य मे भी लेखक ने अपने आश्रयदाता के प्रतिद्वन्दो शत्रु माडू के सुल्तान को सेना का परिज्ञान करने के लिए रचना में सुल्तान की सेना का वर्णन पहले किया है।

कृति के प्रारभ मे ही वह अपना नाम स्पष्ट कर देता है। वर्णन की प्रासा-दिकता तथा सरसता उसकी गद्य-सुषमा की परिचायक है। कवि आश्रयदाता तथा स्वय के जीवन की ओर सकेत करता है—

अथ बात

अेक सीह नै पाखरचौ। सूर सिहाइति आवरचौ। पचाअत अमी परगस्यौ। महादान आछइ घडइ। दूध माहि साकर पडै। सोनो अर सुघास एक अचळ कथै सिवदासु। अब चारण कहै—ए बडी बडाई तो आपणी पाहै बूझाई नहै, सु ए तरेहि जु कारणै। आगिळिउ राज सभा सहित सुचित हुइ सुणाइ। तउ सु कवि कुकवि की पारिखा कपै जणैए (८-९)

दोनो पक्षो की सैन्य का तुलनात्मक बर्णन देख कर दोनो दलो की शक्ति का अनुमान लगा लीजिए। कवि ने सुल्तान की सेना का वर्णन पहले और अचळदास की सेना में लडने वाले सहयोगी शासक राजा नृसिहदास तथा विभिन्न रावराजाओ का वर्णन फिर किया है। दोनो का तुलनात्मक तथा चित्रात्मक सरल वर्णन देखिए—

अथ बात

(बादशाह का सैन्य वर्णन)

१. इरत्यौ खउदालम गोरी राजा बारह लख माळवा रो चकरवरती।

तरै तेवाणू लाख माळवा रा कटक वधे। ते कटकवध रउ आरभ पारभ गर-वातन गडावर। तइ कटकबध माहि तउ कहि दिखाळइ। महाधर तउ कउण कउण—भीया उसमाखान, फतहखान, गजनीखान, उमरावखान ह्इवतिखान। खान तउ मुगीस सारिखा (१४-१५)

२ देस तउ कउण ? सतियासी नमियाड जुगा माधात आसेरि दगउरि वोकि नीलहार इछरे तउ रायसेंण राणी गण पउली पट अलीव राणी तिलार सिलार पुर लगाइ का कटकबध मभ देस तउ माडव धार उजीण सीह उर वरौल हुसगीवाद लगइ का कटकवध। इसी एक ते पातसाह का कटकवध देस देस का, खड खड का, नगर नगर का खान मीर उमरा चतुरग दळ चढि चाल्या। पातसाह आपणा पौ पलाण चाल्या ॥ २२

३ अवर पातिसाह हुवा आला आगिलेरा अर भल-भलेरा। त्या तउ चउरासी द्रुग लिया था दिहाडैं पाडइ। यो तउ सुरताण दूसरउ अलाउद्दीन जिणि चउरासी द्रुग लीया अेक ही दिहाडइ॥ २४

हिंदू राजाओ का वर्णन

१ हिंदू राजा कउण कउण ? सकळ ही सकवदी सकळ कळा सपूरण राजा नरसघदास सारिखा। ते नरसघदास रा कटकवध चालता सातरि आगिलइ दळि पाणी पाछिलइ दळि तइ कादम। ठहि खेह उडती जाइ। दूसरउ विक-माइत ॥ १६

अथ वात

२ राजा नरसघदास मारिखा वत्तीस सहस साहण रिणि-जेति मेल्हि चाल्यउ। मदोनमत हस्ती मेरिहु चाल्यउ। आपण जाइ समद घाल्यउ। ममदि जाइ खाडो उपखाळयउ। अनक राइ मद-गळित करि मेल्ह्या। ते राजा नरसघदास का कुवर तउ चादजी केमजी साहरिसा। सप्राप्त हूवा, मुकाम मुकाम का टोल लागा। तव जायण डूगर वे धवळ हर दोसि लागा॥ २६-३१

राजा अचळेस्वर से उस समय छत्तीस वशो के राजा आकर मिले। उपहार देने लगे। राजा अचळदास प्रदेश की रक्षा के लिए सवसे भेंटे। पहली भेंट पाल्हणसी से हुई। दूसरी भीमा भोज से। फिर धैर्यवान, कल्याणसी, जयणसी, वउलसी, कामाहि, उरजन, सुरजन, मेर, महवन आदि सभी राजाओ से मिले। इस प्रकार छत्तीस कुल एकत्रित हुए। वर्णन की परिगणन शैली विभिन्न राज-वशो के वर्णन के रूप में देखिए—

गोदाका माहि तो राजा राजधर। सोलौक्या माहि तउ सत्रसल। हाडा माहि तौ वीभ्रउ अथवण एकलमल। कछवाहा तउ रिणमलहरा डोड माहिउ नाथू नापउ। बागडी तउ डूगर कान्हड सात्ल सिरहर। मुधावत तउ हामा उधा जोधा सै इसा। एक ते केताहेवा का नाम लीजइ। छत्तीस वंश छत्तीस राजकुळी। तो कवण कवण रिप सारग गुरू नराइण। बाण्या माहि तउ हरपति, लालउ, वेजउ। भाट माहि तउ गागउ तिलोकसी। कउ चारण माहि माधउ, सादो, नापउ। बारहट तउ लाऊ, सेऊ। इसाएक ते केताहेका का नाव लीजै। कनिस्ट वंस सूध छत्तीस। इसा एक ते केता नाव लीजै। छत्तीस ही राजकुळी, एक एक हवै लोहडइ मिळी।

पुरुषो मे ही नही, ४० हजार बाल, अबाल, वृद्ध सभी स्त्रियो मे पुरुषार्थ के प्रति उत्साह छा गया। भोली और पौडसी सुन्दरिया अपने पतियो के युद्ध-प्रेम को तथा उनके पुरुषार्थ को देख कर मुग्ध हो गई।

१ तिनरे तउ वात कहता बार लागइ। अस्त्री जन सहस चाळीस कउ सघाट आइ सप्राप्त हुवो। बाळी भोळी अबळा प्रौढा सौडस वरस की। राणी, रवताणी। आपणा आपणा देवर जेठ भरतार का पुरिषारथ देखती फिरे।। ६४

युद्धस्थल में कवि का विरदावत उत्साह में चौगुनी वृद्धि कर देता था। वर्णन-शैली का प्रवाह एव अथ विरदावत के अतर्गत गद्य की काव्यात्मक सुषमा दृष्टव्य है—

२ म।तापुरिका चक्रवरती लखमराव सारिखा। पउली का देवडा देवसीह सारिखा। बूदी का चक्रवरती सग्राम सारिखा। अवर देवडा हिंदू राय बदि छोड दूसरा मालदे समरसिह सारिखा (२ -२२)।

३— इसउ हिंदु राजा उपकठि कउण छै जिकै मनि पातिमाह की रिम वासी कउण का माथा तइ खिसी ? कउण है दइ-रूठौ ? कउण की माइ बिवाणी जउ साम्हउ रहइ अणी पाणी ? आज तउ सोम मातल कान्हडदे नही, तिलक चुपरि-तउ गहिलतु नही। सीहउरि रउलू नही। हठ तउ राव हमीर आथाम्यो (२३)

अचळेश्वर के ऐश्वर्य का वर्णन करने मे कवि बिल्कुल नही अघाता। दूर-दूर के प्रदेशो मे उसका यश प्रसारित है। उसकी तुलना मे कोई दूसरा राजा टिकता ही नही। अचळेस की भाति तो अचळेस ही है। ऐसे अचळेसर को धन्यवाद है जिसने माडू के बादशाह से भयकर लोहा लिया। वर्णन की सरलता उल्लेखनीय है। लेखक की अलकारिता चित्रण को और अधिक सशक्त बना देती है—

धनि धनि हो राजा अचळेसर थारो जीयो। जिणि पातसाह सउ खाडउ लियो। तेणि पातसाह आया सातरो सत छाडै नही। खन खाडइ नही। हीण न भाखइ। पागार लघित न होइ। तर ते राजा अचळेमर सारिखा अचळ नै अचळेस ही होई। अचळेसर तउ किसउ ? उत्तर दक्खिण पूरब पछिम कउ भड किवाड। आइन्या अजइपाळ। अहकारि रावण। दूसरउ धारू। तीसरउ सिघण। छइ दरसण छैयाणव पाखड कउ आधार। बाळन चकरवति। (२७-२८)

बादशाह का दल अचळेश्वर की सेना पर टूट पडा। प्रलय मच गया। दिशाएँ डोलने लगी। अम्बर मे इतनी गर्द छा गई कि सूर्य के दर्शन भी दुर्लभ हो गए। न हाथियो का पार, न घोडो का। एक उदाहरण देखिए—

इसा एक ते पातसाह रा कटकबध अचळेसर ऊपरि छूटा। बाट का खड इँधण खूटा। दह का पाणी तूटा। परवता सिरि पथ लागा। दुघट भागा। सूर सूझै नही खेह आगा।

हैवर गैइवर पाइदळ, पुहवि न पारावार।
गोरी रावगिर आसनउ, गउ गढ गजणहार॥

इसा तै पातसाह का कटकबध होइ चुट कोस माहि।

(अथ बिरिदावत)

बाहरि साहि भाड, साहि विभाड, वळिया साहि कधि कुदाळ, सबळ साहि मान-मरदन, निबळ साहि थापनाचारिज। सग्राम साहि जग हयरिण भाजणा साहि जइतखभ, सुरिताण दूसरो अलावदीन। किसे एकि आरभि आरभि आइ टिकयो छै। पगि पगि पउळि पउळि हस्ती की गजघटा। ती ऊपरि सात-सात सै जोध घनकधर सावठा। सात-सात ओळि पाइक की बैठी। सात-सात ओळि पाइक की उठी। खेडा उडण मुद फरफरी चुह चकि ठाइ ठाइ ठठरी। इसी एक त्या पटहडि चन दिसि पडी। तिण वाजित के निनादि घर आकास चडहडी। वाप वाप हो ! थारा सत तेज अहवार राइ द्रुग राखणहार। (६८-६९)

इस प्रकार कई दिनो तक भयकर युद्ध चलता रहा। रक्त की नदी बह गई। युद्ध स्थल श्मशान हो गया। गिद्ध मँडराने लगे। राजपूतो मे असाधारण योद्धा पालणसिह ने युद्ध म ही मर कर प्राण देने की दृढ प्रतिज्ञा की। ऐसी गति वास्तव मे दुर्लभ है। इसी तरह भयकर मारकाट कर घाव झेलते पालण-सिह भी खेत रहे। राव का हृदय भर आया। वर्णन की मार्मिकता एव वीर-पूजा भावनाएँ निम्नाकित उद्धरणो में उल्लेखनीय हैं—

१— इसी परि त्यां लडतां लागता, मरता-मारता, महाअष्टमी भारत जुध

माती थी। त्या दूसरी अष्टमी आइ सप्राप्ती हुई। जत्रतत्र गिद्ध मसाण करक की वाडि अरधो अरधि दुवे दळ आउदया। एकि घाइल ही भीना। राति दिवसि न मीना। रुधिर का प्रवाह नदी माहि मिल्या। अनरत अनिवध हुवण लागौ। तितरै बोलतौ ही हुवौ छइ पाल्हणसी वाला कौ। राजा अचळेसर प्रति कहइ छै। इसउ कायउ कित ही रहिवौ। मरण तउ छइ एक बार नाऐं इसउ अब पाइवौ बार बार। (७४ ७५)

२– तितरै बोलतो ही हुवौ। राजा अचळेसर कहै छै—भाइ हो! यातौ वात तम्है कही छइ चालती चडवडी। अम्हारइ मनि न हुई छै एक ही घडी। या तो छइ भावनी आस, ज्यौ जाणौ त्यौ मरौ आसपास। (७६)

३– पिणि कथीर न जीपइ। कनक है ए तो न जीपइ। हम हइ सिव सकति। ''ए बडी वडाई है कवण गति। जु अम्हे मुवा की गैल मरा। माइ-बाप बीसरा। तीन पख ऊधरा। अब यौ अभिमान कउण सउ करा। सत तेज अहकार देखै न हमहू सभरे। (८१)

युद्ध मे वीर गति पाने पर रानिया क्या अपना आत्म-समर्पण म्लेच्छो के हाथ करेगी? क्षत्रिय वालाओ के लिए यह कल्पना भी अस्वाभाविक एव असभव थी। अत जौहर होगा और उनका मृत्यु से आलिंगन ही सही उत्तर होगा। अत चिंता किस बात की। रणथभोर के महाराज हम्मीर के घर पर भी तो क्षत्रिय वालाओ ने जौहर कर अपनी लाज और कुल की मर्यादा की रक्षा की थी। जौहर ही राजपूत रमणियो का शृगार है। वर्णन दृष्टव्य है—

मानवी को कहारे बावळि हो। तेतीस कोडि देवता सहित सिरजणहार त्यो तुहारइ कौतिग देखणहार। हो तौ छउ चिंता वसत तम्हे काइ मानउ उपाणा मन माहि अहित इवं तम्इ यउ करउ ज्यौ जोगइ जोगाइत। कइ धरि जउहर हुवा। सीह उरि रोलू कइ धरि जउहर हुवा। कल्हि कै दिहाडै रिणथभउरि राजा हमीर कइ धरि जौहर हुवा। तिण जउहरा जिका वात ऊणी हुई हुवै त्या म्है पूरी करि दिखाळउ। पूरी हुइ हुवै त्या पुनरपि बाहुडि उजाळउ हो तउ छाउ चिंता वसतु तिणि कारणइ छउ दु चितु। तम्हइ काइ मानउ आपण मन माहि अहित। (८२-८३)

राजा अचळदास की बताई जौहर करने की उक्त रीति को क्रियान्वित किया गया। इस भयकर युद्ध मे राजपूत केसरी अचळदास भी वीर गति को प्राप्त हुए। रानियो ने जौहर के कुड मे कूद कर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा

की। पाल्हणसी के मरते ही समस्त अन्तपुर मे शोक छा गया। वर्णन स्पृहणीय है—

सुत सहउ नीसरउ न दीसउ नीकउ। चाइ इतउ गज घटा न फूटइ। पामा पातळ तउ घाइ भारी घीरउ कहाराणा। जैरि क्यो ही न्हा धीरउ ऊवर इहा पालणसी परीछायौ परीछइ। तउ राजा अचळेसर कहै छै—भाई हो! मवरी रही हमारी। पाल्हणसी परिछावै छै रणवास अवरू लोक उदाम। पाइ लागइ छै। वाई सफळादे भोज की काता, अचळ की जनेता। कुळ-वहू तउ आइ वाई पह पाई राणा मोकळ की सारघू। सकळ ही परिवार हेता दियै अपार। पाल्हणसी परिछायो परीछइ नहीं गवार। पाल्हणसी रे! कण तउ सुकण साचीजइ। वीज तउ सु वीज बीचिजइ। पाछौ पइत्यउ रहाणिजइ। जी थे ऊधरतौ जाणजइ। (८६-८८)।

और इस प्रकार कवि अत मे युद्ध का समाहार जौहर मे जाकर करता है। कवि ने गद्य में जौहर का वर्णन न कर पद्य में ही प्रस्तुत किया है। उक्त उद्धरणो द्वारा रचना की ऐतिहासिकता, आलकारिकता, वर्णन-सौन्दर्य, गद्य-कलात्मकता, तथा कृति की चारण शैली स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह की अनेक वात[1], स्यात और वचनिकासज्ञक कृतिया राजस्थान तथा गुजरात के अनेक जैन अजैन भडारो में उपलब्ध होती हैं। १५ वी शताब्दी के अतिम दशक म यह वचनिका जैनेतर गद्य की प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है। तत्कालीन जैन कवियो तथा गद्य लेखको की भाषाजन्य प्रवृत्तियो का इससे तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

अद्यावधि यह प्रति अप्रकाशित थी। श्री नरोत्तमदास स्वामी ने अब इसका सम्पादन कर दिया है। इसके लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं। निस्सदेह इस सम्पादन से आदिकालीन साहित्य की श्रीवृद्धि होगी। पाठकों को अवश्य आनद मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

---

[1]अचळदास खीची री वचनिका की भांति अचळदास खीची री वात कृति भी मिलती है। इसका विवरण राजस्थान के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, भाग १, म भी मिलता है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने भी अपने ग्रथ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १००, पर इसका उल्लेख किया है। रचना की कथावस्तु लगभग वही है।
[अचळदास खीची और उमा सांखली की प्रेम वार्ता भी उपलब्ध होती है।
—सपादक]

हल्ल कविकृत—

सिद्धराज जयसिंह और रुद्रमहालय कवित्त

श्री भँवरलाल नाहटा

प्राचीन राजस्थानी और गुजराती एक ही भाषा थी, और उस भाषा के अनेक फुटकर पद जैन प्रबन्धादि ग्रथो मे उद्धृत मिलते हैं। उनका समय ११ वी से १५ वी शताब्दी तक का है। १६ वी शताब्दी से राजस्थान और गुजरात की भाषा मे अन्तर अधिक स्पष्ट होने लगता है। इसलिये १५ वी शताब्दी तक के जितने भी दोहे, कवित्त आदि फुटकर पद, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश, प्रभावक चरित्र, कुमारपाल प्रबन्ध, उपदेश तरगिणी, पचशती कथा कोश आदि मे बिखरे हुए पडे हैं, उन सब को सग्रहीत किया जाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि जैन कवियो के तो प्राचीन राजस्थानी के अनेक ग्रथ प्राप्त हैं पर जैनेतर स्वतत्र रचनाएँ १५ वी शताब्दी के पहले की तो प्राय अनुपलब्ध हैं। १५ वी शताब्दी की भी बहुत थोडी-सी रचनाएँ ही मिलती है। इसलिए इन फुटकर पद्यो, जो कि अधिकाश चारण, भाटो आदि द्वारा रचित हैं, का विशेष महत्व है।

पाटण के महाराजा सिद्धराज जयसिंह ने रुद्रमहालय नामक बडा प्रासाद सिद्धपुर मे बनाया था। उसका वर्णन कई फुटकर पद्यो मे मिलता है। सवत् १५२५ मे रचित उपदेशतरगिणी मे जो दो कवित्त मिले हैं उनमे से एक में कवि का नाम 'गद्द' और दूसरे मे 'ग्राम' पाया जाता है। पर ये ही पद्य अन्य प्रतियो मे कवि 'लल्ल' या 'हल्ल' के नाम से पाये जाते है। इन दो पद्यो के अतिरिक्त अन्य ६-७ पद्य भी कवि 'लल्ल' या 'हल्ल' के नाम से इसी प्रसग के मिलते हैं। जयसिंहदेव और रुद्रमहालय सम्बन्धी ऐसे कुल नौ पद्य मुनि जिनविजयजी को किसी प्रति में प्राप्त हुए थे जो उन्होने 'भारतीय विद्या', वर्ष ३,

ग्रक १ म लल्ल भट्ट कृत 'सिद्धराय जैसिंघदे कविरा' के नाम से प्रकाशित किये थे। इनमें एक दोहा और आठ कवित्त हैं। मुनि जिनविजयजी ने इनके सम्बन्ध मे लिखा था 'आ नीचे आपेला प्राचीन भाषा कवित्त तीन सौ, चार सौ वर्ष जूना लखेना एक गुटका में मलिआव्या छे प्रबन्धचिन्तामणि अने 'पुरातन प्रबंध' सग्रहे जेवा ग्रथो मा सिद्धराज ना केटलॉक प्रसिद्ध राजकवियो अने सभापडितोना नामो तथा सस्कृत प्राकृत अने अपभ्रंश मा तेमने रचेला सिद्धराज ना प्रशसात्मक स्तुति पद्यो प्रसगोपात मलि आव्या छे। सिद्धराज विषदेनो आवु स्तुतिमय साहित्य गणु विशाल होवु जाइजे परन्तु ते समग्र उपलब्ध नथी। अहिं मुद्रित करवामा आवता नौ पद्यो एवाज साहित्य भडार ना खोवायला ने वेलायला मणका जेवा छे। एणा कर्त्ता तरीके लल्ल भट्ट नु नाम आप्यो छे।'

इन पद्यो के सम्बन्ध म उन्होने लिखा है कि 'सिद्धपुर मा सरस्वती ना तीरे सिद्धराजे वधावेला रुद्रमहाल्य नो वर्णन छे जे ऐतिहासिक दृष्टिए खास उपयोगी छे। एमा रुद्रमहालय मा स्तम्भ वगैरह केटला हता तेनी सख्या बतावेली छे। ए सख्या प्रमाणे ए महालयमा १४४४ स्तर हता। १७०० स्तभ हता, १८०० पुत्तलियो हती, जे हीरा माणिक-सीजडियली हती। ३०००० नाना मोटा ध्वजदड हता। १७००० हाथी अने घोडा एल। आकार कोतरेला हता। आ ऊपर थी ए रुद्रमहालय केवो भव्य अने केटलो विशाल हशे तेनी काई कल्पना करी एकाय तेम छे। आखाय पश्चिम भारत मा अत्यारे जेटला' जैन, शैव, वैष्णवादि जूना मदिरो विद्यमान छे तेमा विशालतानी दृष्टिए सौथी मोटो मदिर मारवाड राज्य म आवेला राणकपुर गाम नो धर्णविहार नाम नो चतुर्मुख जैन मदिर छे। ए मन्दिर मा कहवाय छे तेम कुल १४४४ स्तभो आवेला छे। ज्यारे रुद्रमहालयमा १७०० स्तभ हता ए ऊपरती तेणि विशालता नी तुलना करी एकायतेवो छे।'

अभी मुझे श्री पूर्णचदजी नाहर, कलकत्ता के सग्रह के सवत् १६६६ के लिखे हुए गुटके में उपरोक्त नव पद्य लिखे मिले हैं। उसमे कवि का नाम 'लल्ल' की जगह 'हल्ल' मिलता है। इसम एक दोहा और नौ कवित्त हैं अर्थात् पद्याश चार वाला पद इस प्रांत में नया मिला है। अत मुनिजी के प्रकाशित पद्यो क पाठ भेदसहित यहाँ दसो पद्यो को प्रकाशित किया जा रहा है। मुहता नैणसी री ख्यात में 'रुद्रमालो प्रासाद सिद्धराव करायो' तिणरी वात नामक एक रोचक

को आबू के पास पृथ्वी में से प्रगट हुआ देखा और सिद्धराज जयसिंह को पाटण से अपने साथ ला कर दिखाया और उसी के अनुरूप सिद्धराज ने रुद्र-महालय का निर्माण किया। इसके निर्माता दुर्लभ शिल्पी और उसकी पुत्र-वधू की बुद्धिमानी आदि का भी रोचक प्रसंग इस बात में मिलता है। सं० १७१५ में जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह को गुजरात का सूबा मिला। सं० १७१७ के भादवे मे मुंणोत नैणसी को उन्होने वहा बुलाया। भादवा वदि ७ को नैणसी ने सिद्धपुर मे डेरा किया और उसी समय के आसपास यह बात सुनेसुनाये प्रवादो के आधार से लिखी गई। रुद्रमहालय के सम्बन्ध में अन्त मे उसमे लिखा है 'रूद्रमालो वडा प्रासाद करायो हुतो सु पादसाह अल्लाउद्दी पाडियो। तोही कितरो एक प्रासाद अजेस छे। गाव आगे उगवण नु फळसे। सरस्वती नदी छे तिण ऊपर प्राची माधव रो दुहुरो करायो होतो। घाट बधायो होतो। सु देवरो तो मुगले पाडियो अने घाट बंधायो हुतो सु अजेम छे। तठे सको सनान करे छे। घाट ऊपरे बगलो एक किणही तुरक करायो छे।' इस विवरण से मुंणोत नैणसी के समय की स्थिति का पता चलता है।

प्रबन्ध-चिन्तामणि मे प्रस्तुत रुद्रमहालय के सम्बन्ध मे लिखा है 'एक बार श्री सिद्धराज ने सिद्धपुर मे रुद्रमहालय का प्रासाद बनवाना चाहा। किसी (प्रसिद्ध) स्थपति (कारीगर) को अपने पास रख कर प्रासाद के प्रारभ होने के समय उसकी कंलासिका को जो उसने किसी साहूकार के यहा एक लाख मे बधक रखी थी, छुडा कर उसको दिलवाई। वह बास की कमाचियो की बनी हुई थी। उसे देख कर राजा ने पूछा कि क्या बात है? इस पर उस स्थपति ने कहा कि मैंने महाराज की उदारता की परीक्षा के लिए ऐसा किया है। फिर उस द्रव्य को राजा की अनिच्छा रहते हुए भी लौटा दिया। फिर क्रमानुसार २३ हाथ ऊंचा सर्वांगपूर्ण प्रासाद बनवाया। उस प्रासाद में अश्वपति, गजपति, नरपति प्रभृति बडे-बडे राजाओ की मूर्तिया बनवा कर रखी और उनके सामने हाथ जोड़े हुए अपनी मूर्ति भी बनवाई।' 'प्रभावक-चरित्र' के अनुसार रुद्र-महालय की प्रशस्ति कविराज श्रीपाल ने बनाई थी।

दूहो— अमरक[१] धरणी परठवइ, अमरक एसा हुत[२]
अमरक नर जेसिह[३] तूअ[४], भजे मो मन भ्रंत[५] ।—१

---

[१]अमरकि [२]हुंति [३]जेसिंघ [४]तूं [५]यो मनि भंजइ भति ।

कवित्त— घर चवदह सइ चाल[१] सभ सय[२] सतर निरतर
सइ अढार पूतली[३] जडी हीरे माणिक[४] भर[५]
श्रीस सहस धज डड[६] सहस दस कलस निहाले[७]
सवा कोडी[८] गय तुरीय हल्ल[९] गुण[१०] रूद्रमुहाल[११]
एतला पिवच सिद्धायमे[१२] रोमची[१३] सुरनर चवे[१४]
सुप्रसिद्ध कित्त जेसिह तुय[१५] टगमग चाहत चक्कव[१६] ।—१

दिसि गयद गडयडे[१७] सिह खिण[१८] खिण गु जारे[१९]
कनक-कलश[२०] भलहले इड श्रोडड विहारे[२१]
पग ठवत पूतली[२२] एक[२३] गावइ एक वावइ
इण पर सद्द उच्छलिग[२४] मह्र सवदइ श्रालावइ[२५]
नाचतिक सुरनर सयल जण[२६] घम घमत सद[२७] उच्छलिग
तिण कारण सिद्ध नरिंद तो[२८] वृषभ[२९] बइल्ल थको[३०] डरिग ।—२

जु ते देव चालिक्क नरिंद भड भडुल बहीया[३१]
तसह[३२] ईस सग्रहे[३३] गूथ गुण माल ग्रहीया[३४]
पख माल सिर घूणि श्रमिय ससिहर वीद्धडिया
सु जडक रय ग्रहि[३५] वभ सिंह केहरि गडवडिया
एतली पत्त सिद्धाय तू सुकवि[३६] 'हल्ल[३७]' सच्चउ चवइ
हडहडत्तउ[३८] हस्यउ केलास सहु हहह करत सकर भवइ[३९]।—३

गुज्जर व देहरउ वसइ तहा गवरि पियारउ
श्रच्चभ पूतली देखि भूलउ वणिजारउ
नह बोल नह हसे कापरिस भद न पायउ
वोलि वोलि जिभ वोलि जीव गम्मार गमायउ
एतली कित्त जेसिह तुय सुकवि 'हल्ल' कीरति करइ
दुरवला हुव एसा पुरष मूरख सिर धुणवि मरइ ।—४

---

[१]सय चवद चियाल [२]सइ [३]पूतली [४]हिरइ माणिक्क [५]वर [६]दड [७]कलस सोवन विहारइ [८]सतर सहस [९]लल्ल [१०]गिरि [११]निहाले [१२]इताइ पिव्यूव सिद्धा हिवइ [१३]रोमच्छिय [१४]श्रवइ [१५]किति जेसिध तुम्र [१६]चाहइ चक्कवइ [१७]गडग्रडइ [१८]पेखिणि [१९]गु जारइ [२०]कनककलस [२१]उड्ड विहारइ [२२]नच्चेइ रगि तिह [२३]हेक गाए हेक वाए [२४]परिसर उच्छलिल [२५]श्रालाए [२६]पेखता सुरनर सयल पर्रि [२७]सर [२८]मुणि [२९]वृष [३०]थक्कउ [३१]भडणि बहिया [३२]तिसवि [३३]सगहवि [३४]गथि गलि मालइ गहिया [३५]सुजड कउनइ [३६]विहुरिए वृषभ जेसिध सुणि [३७]रयण [३८]हहहह करति [३९]भमइ ।

राव ग्रहे उग्रहे[१] राव थप्प ऊथप्पइ[२]
राव मले मरहट्ट[३] राव असमर थर ग्रप्पइ[४]
डक्के भवरतावक्क मेव सासन[५] उद्दालइ
राव चडइ पजरइ[६] राव ग्रहि घातइ गालइ[७]
चालवइ चक्र चिहु दिसि तणा एक अग भूम वल अवरे[८]
मइणल्लदेवि नारणइ घरइ[९] काल गव किम उर धरे[१०] ।—५

चलत[११] इद् चल चलइ[१२] चद्र सलभलइ[१३] दिवायर
डिगत मेर डिगमिगइ[१४] मेरु[१५] झर झगति सायर
सलत्र सेस ससलइ कुभ कोरभ कलहइ[१६]
अनल वनल कसमसइ होइ महि मलइ मलहइ[१७]
घडहडत दुग्ग द्रिगपाल सहि[१८] सुर नर फणि मणि इक्क हुम
मम गहिसु[१९] म गहि मम ग्रहि म गहि ग्रहि मुरथ[२०] जेसिह तुम ।—६

सरगि इद्र सलहियइ दमिण पाताले[२१] वासिग
मात लोग तु राउ[२२] अवर कुण आपम कासिग
हेम सीत[२३] मझार अत्थ जपीये सुरा हिव[२४]
अथत्र चउथउ राउ[२५] सच्च जपीय सुसाहिव[२६]
त्रिण्ह राव त्रिभुवन धणी[२७] जसिह सच्च समुच्चरा
अन चवत्थउ कोइ हवइ[२८] तो दिव्व[२९] जलतो करघरा[३०] ।—७

ऊदर[३१] बिलम्बणि मरइ भूमि भागवइ भुयगम
हल खडि मरइ बइल्ल हग्चा[३२] जव चरइ तुरगम
सूम धन सची[३३] मग्इ वीर त्रिद्रुवइ विवहघर
पडित गुण पढि[३४] मरइ राउ विलसइ मूढा घर[३५]

---

[१]राउ ग्रहइ उग्रही [२]उत्थपि इक थप्पइ [३]राया मलइ मरट्ट [४]उप्पइ [५]डक्क ढक्क नववक्र, मेघ डबर [६]जडइ पिंजरइ [७]ऊगालि करि चालेइ [८]भू अलि वरी [९]वर्णहि छुरिणि [१०]सिद्ध राउ किउ उरघरिय [११]डरति [१२]डगमगति [१३]कलमलति [१४]चलति पृथ्वी डोलति [१५]मेरु [१६]सेहासीस सलवलति, दढति दढ कुभ कडकृत्ति [१७]विनल धिय अनक, पृथ्वी पर पलय ढलक्कति [१८]खडहडति दुग्गा भूरुउ सुपि [१९]गहसि [२०]मुच्छ [२१]राउ पायालहि [२२]मृत्यु लोकि तू राय [२३]सेत [२४]नकोहिव अत्थि करत हिव [२५]अत्थि न चउत्थउ कोइ [२६]जपु सिद्धाहिव [२७]तले [२८]जय अत्थि चउ-त्थउ राव कहि [२९]उज्ज [३०]धरू [३१]मूसा [३२]हरिय [३३]सचि करि [३४]पढि गुणि [३५]मूढ बोलइ राया घरि ।

सुज्जाण राय[१] गुज्जर धणी सुणो वीनति करण सुग्र[२]
हम पगुणां[3] पावे भवर कहा[४] परिक्ख जयसिह तुम ।—८

वीस श्रीस चालीस साठि सत्तरि सतहत्तरि
भट्टा दीन्हा भाण[५] करह[६] केत्राण विवह पर[७]
भ्राठ ढाल दस ढोल वीस नेजा इव डडह[८]
छत्र ताण[९] गय गुडे[१०] सुजम जेसिह नरिंदह
मारीयउ दलिद्र दस लाख दे[११], हीये हरख बहुलो थियउ[१२]
विकसीयो भाट हडहड हस्यउ[१३] सिदराव एतल[१४] दीयउ ।—६
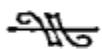
[१]सुणि सिद्धराय [२]करा वीनन्ती [३]पठु गुणु[४] का [५]भाटइ भ्राणी सुवि
[६]दिद्ध [७]सवल वरि [८]दडह [९]ढलवि [१०] गुडवि दिद्ध [११]देई [१२]जिउ
पाय भकुद्य कीयउ [१३]हडहडवि महद्द तारइ [१४]इत्तउ ।

नोट—नैणसी री ख्यात में उपरोक्त पद्यो मे से न० १ २ ७ ८ ६ हैं ।

सिद्ध भक्त कवि अलूनाथ कविया

श्री सौभाग्य सिंह शेखावत

राजस्थानी साहित्य एवं इतिहास के लिए चारण जाति की अविस्मरणीय देन रही है। इस जाति ने अपनी प्रतिभा, चातुर्य्य, दूरन्देशी और काव्य-शक्ति से अनेक बार राजस्थानी इतिहास को नया मोड दिया है। चारण जाति के इतिहासकारो के मत से चारणो की एक सौ बीस शाखायें हैं, जिन्हे 'वीसोत्रा' कहते हैं। इन एक सौ बीस शाखाओं में एक प्रसिद्ध शाखा कविया चारणो की है। यह शाखा अपने पूर्व-पुरुष कविया के नाम से कविया कहलाने लगी। कविया चारणो में उच्चकोटि के कवि, विचारक, भक्त और योद्धा उत्पन्न हुए हैं। कविया चारणो का राजस्थान मे आदि निवास-स्थान बिराई ग्राम था और मालनदे इनकी आराध्य देवी थी। मालनदेवी के आशीर्वाद एवं आदेश से इस शाखा के पूर्वज बिराई से सिणला ग्राम मे आये। दो पीढियो तक सिणला में रहने के बाद हेमराज कविया के घर प्रसिद्ध भक्त कवि अलूनाथ उत्पन्न हुए। अलूनाथ का जन्म १५६० वि० के आसपास हुआ। ये डिंगल भाषा के ईश्वर-भक्त श्रेष्ठ कवि थे। यद्यपि इनका कोई प्रबन्ध-काव्य अभी तक नही मिला है, पर प्राप्त गीत और षट्पदियो से इनकी सहज प्रवृत्ति, ईश्वर-भक्ति और काव्य-प्रतिभा का बोध होता है। निम्न पक्तियो मे श्रेष्ठ भक्त कवि अलूनाथ और उनके जीवन वृत्त पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

अलूनाथजी की भक्ति और काव्य से प्रभावित होकर आमेर नरेश महाराजा पृथ्वीराज कछवाहा के पुत्र वैरागर (रूपसिंह बरागर) कछवाहा ने इन्हे जसरणा ग्राम प्रदान किया। तब फिर अलूनाथ सिणला से जसराणा मे रहने लगे। चारण जाति मे इनकी सिद्ध भक्तो मे गणना की जाती है और इनकी सिद्धि की अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि बलख के सुल्तान को

किसी घटना विशेष से वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे राज्य त्याग कर हिन्दुस्तान मे आ गये । यहा अलूनाथ से इनकी भेंट हुई और दोनो ही एक दूसरे की भक्ति एव ज्ञान से आकर्षित हुए। वलख के सुल्तान के गुरु ने उनके गले मे मिट्टी की कच्ची हडिया (मटकी) डाल कर कहा था कि जिस दिन आत्म-ज्ञान के आतप से यह हडिया स्वयमेव ही पक जायेगी, उस दिन तुम पूर्ण योगी हो जाओगे। इस हडिया को गले मे धारण किये रहने के कारण उनका नाम 'हाडी भडग' प्रसिद्ध हुआ। शेखावाटी के प्रसिद्ध स्थान जीणमाता के पहाडो मे हाडी भडगजी की गुफा है। 'हाडी भडगजी' पर अलूनाथजी का एक गीत और एक निसाणी 'सुल्तानी वलख बुखारन्दा' मेरे सुनने म आये हैं।

भक्त कवि नाभादास ने अन्य चारण भक्तो के साथ कोल्ह (अलूनाथ के पूर्वज) और अलूनाथ का अपनो भक्तमाल मे वर्णन किया है, जिसम इन कवियो को चौरासी रूपको की रचनाओ मे निपुण बतलाया है। मूल पट्पदी दृष्टव्य है—

चौमुख चौरा चड जगत ईस्वर गुन जानें।
करमानद और कोल्ह अलू अक्षर परवाने।।
माघो मथुरा मध्य साधु जीवानद सीवा।
ऊदा नरायनदास नाम माडन तन ग्रीवा।।
चौरासी रूपक चतुर चरचत बानी जूजुवा।
चरन सरन चारन भगत हरि गायक एता हुवा।।
(मेरे सग्रह की हस्तलिखित भक्तमाल से)

बीकानेर के कविराज भैंरवदान ने अपने 'राजवश प्रकास' मे लिखा है—

अलू कविया हुव जोग निधान।
लह्यो खट् चक्रन को जिन ज्ञान।।
किय तिध जोग के आठहुँ अग।
कियो हरि ते हिय हेत अभग।।

मेवाड के आशिया चारण बखतराम ने अपने रचित पद्धरी छन्द मे चारण भक्त कवियो के प्रसग म लिखा है—

ईसरो भक्ति थभण अखड।
करमानद कोहल अलू कहद।
निज माघो मथुरा जीवनद।।

इसी प्रकार किसी अन्य कवि ने कहा है—

ईसर अलू करमानद अनद, सूरदास पुनि सत।
मांडव जीवा केसव माघव, नरहरदास अनत।।

दानिया नाम के राजस्थानी कवि ने हरि नाम महिमा की महानता प्रदर्शित करते हुए निम्न पट्पदी में अलूनाथ का उल्लेख किया है—

> हरि सुमरण रे हेत वीण तुंबर बजाई।
> हरि सुमरण रे हेत, मन्ह मही कवित कताई॥
> हरि सुमरण रे हेत, गीत करमाणद गाया।
> हरि सुमरण रे हेत, सहस कवि जोति समाया॥
> हरि भगती रे हेत ईसर प्रभु, किसन चरण जाइ वानिया।
> जिण राळ माहि पायो जनम, पढि रे हरि प्रभु दानियां॥

यह तो राजस्थान के कतिपय विद्वान कवियों की अपनी दृष्टि में भक्त अलूनाथ का संक्षिप्त भक्त चरित्र चित्रण रहा, अब आगे उनके काव्य पर प्राप्य एक प्राचीन कवियों का अभिमत प्रस्तुत किया जा रहा है—

> कवित्त अलू दूहे करमाणद, पात ईसर विधाचो पूर।
> मेहो छंदे झूलणे मालो, सूर पदे गीतें हरसूर॥

इस दोहे में सात कवियों के छंदों की प्रशंसा की गई है। अलूनाथ के कवित्त (पट्पदियां) राजस्थानी कवि समाज में अजोड गिनाये गये हैं। यद्यपि इनकी अद्यावधि प्राप्त कविताएँ मुक्तक ही हैं, पर उनमे ईश्वर नाम महिमा की महानता प्रतिपादित की गई है। ये अपने ज्ञान और अनुभूति से दीर्घकालीन राम नाम रूपी सोमरस से सराबोर हैं। भक्तिकालीन परम्परा के भारतीय कवियों में अलूनाथ का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचनाओं में नये-नये प्रतीकों और पौराणिक कथाओं का प्रभावोत्पादक वर्णन पाया जाता है। भाषा में ओज और प्रसाद है तथा वर्णन में सहज आकर्षण है। प्रत्येक पट्पदी का स्वतन्त्र अस्तित्व है और ये शान्त रस से आप्लावित हैं। नीचे इनकी कुछ पट्पदियां उद्धृत की जा रही हैं—

रामावतार सम्बन्धी.—

> प्रचक पाल गर दळ विभाड फौज अणवळ
> निर्भै नाथ निगरव ससार ससकळ
> वडिन सत्ती वस एकोतर तारण
> पर बीया परमुख सेन राकस संहारण
> मंदवि सक जग उचरै राज करते रामणह
> ते कीयौ एम राघव तवै लखमण केन वभोखणह।—१
> धुरा लक धडहडै समद बधो सर पजर
> मनळ भाळ उछळे धिजे धूवा धोळागिर

पूभकरन करद मये महामण मंगळ
टणू हाक हैवपण उलट गढ कीयौ उदंगळ
ग्रोदरे मंदोवरि ताम भै सपनतर श्राया सहम
गोपीया राम रामण सरिस दळं सीस गमिस्यै दहम ।—२
किति किरन विथुरिय डरीय भरि तिमर निसाचर
कुमुद मुदित मन मलिन मुख नलिन श्रानंदघर
भरि चकोर संतपत जपत जस चक्रवाक सुर
नछत्र विपय छय गय ग्रलोक श्रयलोक त्रिविधजुर
रावन उलूक मुर्ख मूक हुव श्रंघ नयन श्रासान घट
श्री रामचद्र दिनकर दरस कौसल्या प्राची प्रगट ।—३

कृष्णावतार सम्बन्धीः—

काराग्रहि जामेवि कणय मणि भूपण धारण
ग्रर्द्ध निसा ग्रस्टमी क्रस्ण मुग्र भार उतारण
क्रस्ण करिहि समिले मात जसुदा तिणि रख्खय
वे कंस निरखस हिये पिन मात हरख्खय
कप्पूर हलिद्रा कुम-कुमा मिलय सग गोकुल मही
निसि दिवस द्वार नदराइ रै दधि कादव जमना वही ।—४
देवराज धरि दसान या भूतेस भडारहि
नाग नेस पणि नही न या धनराज दुवारहि
घु टुरुवा घूमते ग्रेह कर नेग्रह बाळ
दधि गिरिवर डोलीयो पनग धूजीयो पयाळ
ग्रदभूत चरित्र व्रज ग्रतरै पूरण ब्रोए चोर को
ग्राणद भलो समयो ग्रलू देख्यो नद ग्रहीर को ।—५
पच एक पचास कोटि पावस्स निहरसय
श्रैरावत चढि इद्र गयौ पचिहारि वरस्सय
फळ तबोळ दधि ग्रखित हरखि जसुवै ले ग्राई
.. ... .पसुपाळ, हुवे ग्रांणद बघाई
सुर धेन सहित सुरतर कुसम सुरपति विनो समच्चरै
धिक ग्रह घन्य गिरवर धरण किये ग्रवगुण गुणक रै ।—६
ब्रह्म वेय उच्चरैय गीत तुंवरु गावै
रमा ग्रवसर रमै वीणा सरसत्ती बजावै
सिव ग्रवलोकण करै इद्र सिर चम्मर ढाळै
व्यास उकति बरनवै पाउ गगा पखाळै
ससि सोळह कळा ग्रम्रित सर्वै सूरिज कोट समघरै
ग्रपरम तणा सिर ऊपरै कमळा ग्रारती करै ।—७

गोप-नार चित हरण प्रेम लच्छ्रणा समरपण
कुंज विहारी क्रहण रास श्रंदावन रच्चण
गोवरधन ऊधरण ग्राह मारण गज तारण
जुरासिध सिसपाळ भिडे भू-भार उतारण
जमलोक दरस्सण परहरण मो भग्गो जीवण मरण
सो मंत्र भलो निस दिन श्रलू सिमर नाथ श्रसरणसरण ।—८
महाराज गजराज ग्राह सग्रह्यौ सनेही
करि श्राण्यौ वयकुंठि दिव्य नारायण देही
दधि भारथ कौरवा श्रतर वेला उत्तारे
रौद्र दुजोवण सभा लाज द्रोपदी वधारे
सुदरसण ससंख गद्दा पदम श्रंबर पीत चियारी भुव
गोविंद वेग वाहर गरुड हरि जगनाथ पुकार हुव ।—९
चरण कमळ मध्यपुरी रमाकर कज विराजै
सकर सेष विरचि राग सारद नि साजै
वेत्रपाणि जय विजय सव्व कैहे समझावै
पीतवर घनस्याम महल भगतज्जण पावै
मिळि हरख कोटि श्रंश्रीस मैं हेम डड चामर सुकरि
श्राणंद'भेद कौतुक श्रलू व्है अनत दरबार हरि।—१०

नीचे की पक्तियो मे कुछ ऐसी पट्पदिया दी जा रही हैं, जिनमें नाम, महिमा, वृद्धता, शील-सन्तोष श्रौर श्राराध्य के प्रति श्रनन्य निष्ठा, विश्वास श्रादि की महत्ता का वर्णन है ।

मोर मेर यर चुगै चुगै पंछी फळ तरव्वर
गज कजळी वन चुगै चुगै डिग हंस सरव्वर
श्रनड चुगै श्राकास चुगै पाताळ भुयगम
केहर नख श्रौ चुगै चुगै जित ऊएग तुरगम
जीव श्रौ जतु सब्बही चुगै गाठै कहा गरत्थ हैं
चिता म कर नाचित्त रहै देणहार समरत्थ हैं ।—११
दईत राज कुण दळै पळे नरसिंघ नरेसर
काळकूट जीरवै नको पाखै भूतेसर
श्रोस प्यास नह हटै, वहे श्रीपंम हजारा
बरिषा जानो वहै धरा नभ रै जळधारा
ससारि श्राप सारथिया नारायण किम श्रनि नेरा
श्रावै न दूध सीझै श्ररथ श्रलू कंठ पयोहेरा ।—१२
दाता उत्तर दियो खावै नहि करडो खाणो
श्रवण उत्तर दियो वयण नहि सुणै वडाणो

दिरगां उत्तर दियो दूर आवतो नह दीसै
नासा उत्तर दियो वासना विसवा-वीसै
जिहा किसोर गुण नाम जप, क समस्सा लागी करण
टाळण विराम आरांम तुक स्याम राम चरणो सरण।—१३

दूधी नै देव रे थभ फिरिया चौरासी
माया हूंत चमोर क्यिो रे दास अदासी
तुरियें भवतारिया छान छीय धर छाई
जोगता जैदेव री जगत जाणे जीवाई
तारिया सयबर हर अलू दहें लाज मद गघ दुख
स्वामी अनम गुर सेवता पराधेन पूरण पुरख।—१४
सहज सीळ सतोस प्रथम जीवता पाळीजै
नारायण जगनाथ साध सगत समरीजै
मासा नसना होज सतें तेडद दूरीजै
ऊपजिय उदमाद जिय वैरागन कीजै
चीतियें अमर जरिये अजर ध्यान अजपा धाइये
आप अेक गिणिये अलू राम रस्स तब पाइयें।—१५

भक्त कवि अलूनाथ ने पट्पदियो के अतिरिक्त डिंगल गीत भी रचे थे। गीत चारण कवियो की अपनी निधि है। तब फिर अलूनाथ जैसा कवि गीतो की कैसे उपेक्षा कर सकता था? अलूनाथ के अभी तक केवल दो-चार गीत ही हमारे अवलोकन मे आये हैं, जिनमे दो गीत बून्दी के हाडा वीर सूरजमल पर प्राप्त हुए हैं। सूरजमरा महाराना उदयसिह और विक्रमादित्य के महाराना सग्रामसिह द्वारा नियुक्त सरक्षक थे। महाराना सग्रामसिह के ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी महाराना रतनसिंह ने अपने दोनो भाइयो की शक्ति को समाप्त करने के लिए प्रबल पराक्रमी वीर सूरजमल को छलाघात से मारने के लिए एक दिन आखेट के बहाने उन्हे बुलवा कर आघात किया। सूरजमल ने मरते-मरते रतनसिह का भी सफाया कर उदयसिंह का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। इसी घटना के सूचक दो गीत दिये जा रहे हैं। गीत ओजपूर्ण हैं।

गीत सूरजमल हाडा रो

मलु आणे पगे अगि उघाडे
विणि हथियारा वसत्र विणि
जेसाहरो दिमवर जाणै
जातो दीठो घणे जणि
वदुओ तेग कटारी वीटो

खाटी रई उपरं खाद
मुडतो आखडतो सूरजमल
विण पंटो छाडै सिरवाट
मद्यरीके याए सरिजमल्ल
भूजि उडे न किम्रो भाराथ
हाते न मिळियो हाथुवं
हालियो डढ लगाड हाय ।

दूसरे गीत मे सूरजमल द्वारा मरते-मरते राणा रतनसिंह को मार गिराने का वर्णन है। गीत सम सामयिक और ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। अब सूरजमल की कटारी विषयक गीत देखिए –

नहूवाण तणा पुरसातन चोरगि
निजडै अक वळे तिरछो
सुजडी सूरिजमालि रतनसी
पाडीयो ऊडिया हग पछो
सिर खड गयं भगवती सूरा
अमतं देह न कर अमीयो
केनी गह रामसीक कळोघर
गं आतमा पछं गमीयो
सुत नारयण वहते सारे
अदभुत गति दाखे अपलि
चचळ गयं सल गुर चक्रवति
मारीयो राइ कटार मळि
आवाहे प्रतिमाळी आहवि
सघण सहे समसेर सर
गैवपनाथ महाग्यि गिळीयो
नमो पराक्रम सूर नर ।

कवि अलूनाथ ने जोधपुरके प्रतापी राजा राव मालदेव और अजमेरके शाही सूबेदार हाजीखा पठान, सरफुद्दीन, जयमल राठौड और महाराना उदयसिंह के मध्य हुए हरमाडा नामक स्थानादि के युद्धो एव राव मालदेव तथा वीरमदे दूदाउत (मेडता) ईसर वीरमदियोत, सामलदास उदैसिघोत, तेजसी डूगरसीयोत आदि योद्धाओ और राव मालदेव की मृत्यु पर मरसिये भी लिखे थे। हरमाडा का युद्ध विक्रमाब्द १६१३ फाल्गुन कृष्ण नवमी और मालदेव की मृत्यु कार्तिक सुदि दोज १६१६ मानी जाती है। इससे कवि के १६१६ तक

जीवित रहने का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। कवि की शान्त रस की रचनाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन्होने अच्छी आयु प्राप्त की थी।

अलूजी का समाधि-स्मारक कुचामन के समीपस्थ जसराणा ग्राम मे है। वहा उनकी पावडियो की पूजा की जाती है और वहा के निवासी उस स्थान को अलूजी बापजी की समाधि कहते हैं। सभव है उनकी समाधि पर कोई मृत्यु-लेख भी अकित हो। कुचामन के पहाडी दुर्ग मे उनका लोहे का चिमटा और धूनी होने की जनश्रुति है। राजस्थान के प्रतिभावान् एव साधन-सुविधा प्राप्त विद्वानो को ऐसे भक्त कवि पर शोध-खोज कर इनकी रचनाओ के मूल्याकन से साहित्य ससार को परिचित कराना चाहिये और साहित्य के साथ-साथ उनके जीवन, साधना, इति-वृत्तादि को भी प्रकाश मे लाना चाहिए। भक्त कवि अलूजी की वश-परम्परा म करणीदान कविया आलणियावास, गोपालदान चोखा का बास, रामदयाल फतहसिह की ढाणी, हिंगळाजदान सेवापुरा और मानदान दीपपुरा जैसे विद्वान् कवि हो गये हैं। इन कवियो के घरानो से सारी सामग्री सकलित करना आवश्यक है।

राजस्थानी आदिकालीन लोक साहित्य

श्री मनोहर शर्मा

अपने लोक साहित्य के सकलन एव सरक्षण की ओर भारतीय प्रजा का सदा से ही ध्यान रहा है। इस विषय मे पुराण, जातक, वृहत्कथा, पञ्चतत्र तथा कथाकोश आदि ग्रथ प्रमाण हैं। इनमे लोक कथाओ और गाथाओ का प्रचुर परिमाण मे सग्रह हुआ है। इतना जरूर है कि कई ग्रथो मे विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए लोक-प्रचलित साहित्य-सामग्री को सँवार-सजा कर प्रस्तुत किया गया है जिससे उसका स्वाभाविक रूप कुछ बदल गया है, फिर भी लोक साहित्य की दृष्टि से उसका अध्ययन करना कम उपयोगी नही है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ अपभ्रश से विकसित हुई हैं परन्तु इस विषय मे कोई सीमा-रेखा नही खेंची जा सकती जो इन दोनो को स्पष्ट रूप से अलग अलग कर दे। भाषा के विकसित होने का काम एक दिन का नही है, यह धीरे-धीरे होता है। उत्तरकालीन अपभ्र श मे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ का पूर्वरूप प्रगट है। इस काल की लोक-प्रचलित साहित्य सामग्री का एक विशेष प्रकार से सग्रह भी हुआ है। आचार्य हेमचद्र ने सिद्धराज जयसिंह के लिए अपने व्याकरण ग्रथ 'सिद्धहेमचद्रशब्दानुशासन' की रचना करते समय उसके अपभ्र श-विभाग मे उदाहरणस्वरूप लोक प्रचलित दोहे बडी सख्या मे दिए हैं। इसी प्रकार सोमप्रभसूरि विरचित 'कुमारपालप्रतिबोध' ग्रथ की प्राकृत भाषा मे लिखी गई कथाओ मे यत्र तत्र तत्कालीन लोक-प्रचलित पद्य प्रस्तुत किए गए हैं। यह ग्रथ अनहिलपट्टन मे स० १२४१ मे समाप्त हुआ था। आचार्य मेरुतु ग ने वढवान मे स० १३६१ मे अपने सस्कृत ग्रथ 'प्रवधचिन्तामणि' की रचना की। इस ग्रथ मे भी प्रसगानुसार लोक प्रचलित पद्यो का प्रयोग किया गया है। निश्चय ही ये पद्य आचार्य मेरुतु ग के समय से पुराने

हैं। इस प्रकार इन जैन विद्वानो द्वारा लोक साहित्य के सग्रह तथा सरक्षण का जो परमोपयोगी कार्य हुआ, उसके लिए साहित्य-रसिक इनके चिर ऋणी रहेंगे।

इस साहित्य-सामग्री की भाषा को विद्वानो ने अलग अलग नाम दिए हैं। स्वर्गीय चद्रधरजी गुलेरी ने इसे 'पुरानी हिंदी' कहा है। इस विषय मे उनका विस्तृत लेख नागरी-प्रचारिणी पत्रिका मे स० १६७८ म प्रकाशित हुआ है जिसमे बडी गहराई से शब्दार्थ एव भावार्थ पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार इस भाषा को 'जूनी गुजराती' तथा 'प्राचीन राजस्थानी' नाम भी दिए गए हैं। नाम कुछ भी दिया जाये, परन्तु इससे अस्वीकार नही किया जा सकता कि यह प्राचीन साहित्य-सामग्री एव इसकी परम्परा आज भी राजस्थान तथा गुजरात मे थोड-बहुत परिवर्तित रूप मे लोक-प्रचलित है। गुजराती एव राजस्थानी भाषाएँ सोलहवी शताब्दी से अलग अलग हुई हैं, इससे पूर्व ये दोनो एक ही रूप मे थी। ऐसी स्थिति मे हेमचद्राचार्य आदि जैन विद्वानो द्वारा सकलित इस सामग्री को राजस्थानी भाषा का आदिकालीन लोक-साहित्य मानना सर्वथा सगत है। इसके शब्दरूप भी राजस्थानी मे अब तक चले आ रहे हैं।[1]

इस लेख म इसी सामग्री के आधार पर राजस्थानी आदिकालीन लोक-साहित्य पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। आगे हेमचद्र, सोमप्रभ तथा मेरुतु ग के नामो का सकेत स्थान-स्थान पर किया गया है। इसका यह अभिप्राय नही है कि नामाकित पद्य उन विद्वानो की अपनी रचनाएँ हैं। ये तो लोक-साहित्य की चीजें हैं जो इन विद्वानो द्वारा सकलित अथवा प्रयोग मे लाकर सुरक्षित की गई हैं।

लेख मे जहा कही प्राचीन सामग्री पर विचार किया गया है, वही उसका वर्तमान रूप अवश्य दिखलाने की चेष्टा की गई है। लोक साहित्य बहती हुई धारा के समान है। यह साहित्य-धारा पीढी-दर-पीढी चलती रहती है। अत इसकी परम्परा का अध्ययन करना बडा रोचक तथा उपयोगी होता है। आज एक देहाती व्यक्ति जो दोहा बोलता है, नही कहा जा सकता कि वह कितना पुराना है और न जाने समय-समय पर लोकमुख पर अवस्थित रहते हुए वह कैसा-कैसा भाषागत परिवर्तन कर चुका है। यह लोक-साहित्य की

---

[1] इस विषय मे शोध पत्रिका (३।१) में सकलित 'प्राचीन राजस्थानी' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

महिमा है। इस पर जितनी गहराई से विचार किया जाय, उतनी ही नई नई चीजें प्रकाश मे आती हैं।

इन दोहों में कई ऐसे हैं जिनका हेमचद्र और सोमप्रभ दोनो ही ने अपने ग्रथो मे उपयोग किया है। यह स्थिति इन दोहो की जनप्रियता को सूचक है। आगे इस दिशा में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे इनके पाठभेद का पता चलेगा। ऐसा होना प्रचलित काव्य के लिए एक स्वाभाविक प्रक्रिया है—

१ अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ जण जोण्ह करन्ति। —हे० च०
अम्हे थोवा रिउ बहुय इउ कायर चिंतति
मुद्धि निहालहि गयणयल कइ उज्जोउ करति। —सो० प्र०

२ मइ जाणिउ पियविरहि अह कवि धर होइ वियालि
णवर मिअड कुवि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि। —हे० च०
मइ जाणियउ पिय विरहियह क वि धर होइ वियालि
नवरि मयकु वि तह तवइ जह दिणयरु खयकालि। —सो० प्र०

३ चूडुल्लउ चुण्णी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ
सासानल जाल झलक्किअउ वाह सलिल ससित्तउ। —हे० च०
चूडउ चुनी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु
सासानलिण झलक्कियउ वाह सलिलि ससित्तु। —सो० प्र०

४ माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज
मा दुज्जणकरपल्लवेहि दसिज्जुंतु भमिज्ज। —हे० च०
माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज
मा दुज्जनकरपल्लविहि दसिज्जतु भमिज्ज। —सो० प्र०

यह स्थिति यहीं तक समाप्त नहीं हुई। आज भी तत्कालीन अनेक दोहे राजस्थानी एव गुजराती जनता मे परिवर्तित रूप मे प्रचलित हैं। इससे इस साहित्य सामग्री की अति दीर्घकालीन लोकप्रियता प्रकट होती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है—

१ वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति। —हे० च०
काग उडावण धण खडी, आयो पीव भडक्क
आधी चूडी काग गळ, आधी गई तडक्क।
कामण काग उडावती, पीयु आयो झबकाह
आधी चूडी कर लगी, आधी गइ तडकाह।

२ ऊग्या ताविउ जहि न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट
गणिया लब्भइ दीहडा के दहक ग्रहवा ग्रट्ठ। —मे० तु०
खा ले पी ले खरच ले, लाखाँ वहै सुघट्ट
गिण्या दिहाडा पावसी, कै दसा कै ग्रट्ठ।
लाखो के' माण्या नहि, छते हुते सैण
दियाडा दस ग्राठ मे, को जाणैं हो केम।

इसके साथ ही इन प्राचीन दोहो का राजस्थान मे वर्तमान समय में प्रचलित दोहो के साथ भाव-साम्य भी देखने योग्य है। कुछ उदाहरण दिए जाते है—

१ *गुणहिं न सपइ कित्ति पर फल लिहिग्रा भुजन्ति*
केसरि न लहइ बोड्डिग्रवि गय लक्खेहि घेप्पन्ति। —हे० च०
एकइ वन्न वसतडा, एवड ग्रतर काय
सिंघ क्वड्डी ना लहै गयवर लक्ख बिकाय।
(गयवर गळे गळथियो, जहं खर्च तहं जाय
सिंघ गळथ्यण जे सहै, तो दह लक्ख बिकाय।)

२ भल्ला हुग्रा जु मारिग्रा, बहिणि महारा कन्तु
लज्जेज्ज तु वयंसिग्रहु, जइ *भग्गा घरु एन्तु*। — हे० च०
भागे मत तू कथडा, तो भागे मुक्ख खोड
म्हारी सग सहेलडी, ताळी दे मुख मोड।

३ जो गुण गोवइ ग्रप्पणा पयडा करइ परस्स
तसु हउ कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउ सुग्रणस्सु। — हे० च०
निज गुण ढाकण, नक नित, पर गुण गिण गावत
ऐसा जग मे सुजण जण, विरळा ही पावत।

४ *जे महु दिण्णा दिग्रहडा दइए पवसन्तेण*
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरियाउ नहेण।
ग्रावू ग्रावू कर गया, कर गया कोल ग्रनेक
गिणता गिणता घस गई, ग्रांगळियां री रेख।

कहावतें लोक-साहित्य का एक विशिष्ट ग्रग है। राजस्थानी का ग्रादि-कालीन लोक साहित्य इनसे भरा-पूरा है। यह सामग्री कहावतो के विकास के ग्रध्ययन की दृष्टि से ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रागे कहावतो के कुछ उदाहरण चुन कर दिए जाते हैं। इनसे मिलती हुई कहावतें ग्रब भी प्रचलित हैं—

१. ग्रह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु। — हे० च०
(ग्रब कलियुग में धर्म का प्रभाव कम हो गया है)

२. अग्गिए दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु। — हे० च०
(आग से घर जल जाने पर भी उससे काम रहता ही है।)

३ तं बोल्लिअइ जु निव्वहइ। — हे० च०
(वही बोलो जो निबाहा जा सके।)

४. तसु दइवेण विमुण्डियउ जसु खल्लिहडउ सीसु। — हे० च०
(जिसका सिर गंजा है, उसे तो दैव ने ही मूंड दिया है।)

५ नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति। — हे० च०
(नेह के हटने से वे ही तिल बिगड कर खल हो जाते हैं।)

६ जेवडु अन्तरु रावण रामहं,
तेवडु अन्तरु पट्टण गामहं। — हे० च०
(जितना अंतर राम और रावण मे है, उतना ही अंतर पट्टण और गांव मे है।)

७ घइ विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि। — हे० च०
(विनाश काल मे बुद्धि विपरीत हो जाती है।)

८ ज वाहिउ त सारु। —हे० च०
(जो बीत गया वही सार है।

९ गंगाजळपक्खाळिय वि सुणिहि कि होइ पवित्त।—सो० प्र०
(गंगाजल से धोने पर भी क्या कुतिया पवित्र हो सकती है ?)

१० जितिउ पुज्जइ पगुरणु तितिउ पाउ पसारि। — सो० प्र०
(जितनी चादर हो उतना ही पांव फैलाना चाहिए।)

राजस्थान में इस प्रकार के बहुसख्यक पद्य लोक-प्रचलित हैं जिनमे किसी प्रसग की चर्चा कर के अन्त में कहावत का प्रयोग किया गया है। ऐसे पद्य 'अधूरा पूरा' या 'अरध सिलोका' कहे जाते हैं। लोग इनका प्रयोग बातचीत को सरस बनाने के लिए विशेष रूप से करते हैं। इसी दृष्टि से एक प्राचीन पद्य यहा प्रस्तुत किया जाता है—

एक कुडुल्ली पचहि रुद्धी
तह पचह वि जुअजुअ बुद्धी
बहिणुए त घरु कहि किव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउ अप्पण छन्दउ।

[एक कुटी (शरीर) पाच (इन्द्रियो) से रूधी गई है। उन पाचो की बुद्धि भी अलग-अलग है। हे बहिन, बतलाओ, वह घर किस प्रकार प्रसन्न हो, जहा कुटुम्ब आप-छदा (अपने ही मन के अनुसार काम करने वाला) हो ?]

देखने में यह पद्य एक पहेली-सा लगता है। तुलना के लिए निम्न राजस्थानी पहेली देखिए:—

एक गाव में राजा आठ
सै का न्यारा न्यारा ठाठ
सुणो सखी एक अचरज देख्यो
एक बही मे सै को लेखो। (गंजीफो)

इसके साथ ही ऊपर दिए गए प्राचीन पद्य की नीचे लिखे पद्यों (अधूरा पूरा) से भी तुलना कीजिए:—

एक बळद पीठ सू खाडो
रात्युं नाह लदावै टाडो
घरां बाधण नै नाही ठाम
थोथी चिडी कपूरी नाम। —१
एक खोड अर जणा पचास
सारा करै ओडण की आस
साझ पडया हो खेंचा-ताणी
खाता खाण न पीता पाणी। —२
एक घोडो सौ जणा सोय
चरण जाय समदरा तीर
घर बाधण नै नही जायगा
डेड घोडो डीडवाणै पायगा। —३
एक ही चावळ वो ही थोथो
नित उठ नार करावै सीधो
देखो तेरै सीधै की सोय
लेणा एक न देणा दोय। —४
एक कूवो पियो सह चावै
पाणी बाटो बाटो आवै
गाव माय अळीतो हूवो
तो लागी लाय खुदावै कूवो। —५

ये पद्य भी किसी अंश में प्राचीन पद्य की परम्परा के से प्रतीत होते हैं। साथ ही प्राचीन पद्य की 'नन्दइ' क्रिया भी विचार करने योग्य है। अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती के ये प्रयोग देखिए—

१. दीवो नदगो। (बुझगो = बुझ गया)
२. पूजी नदगी। (निमडगी = समाप्त हुई)
३. चुडी नदगी। (फूटगी)—गुजराती

यहा तीनो वाक्यो को मागलिकता प्रदान करने के लिए 'नदणो' क्रिया का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'वधणो' क्रिया का प्रयोग भी होता है। लोक साहित्य की एक ही चीज कितनी अधिक सूचनाओ से भरीपूरी हो सकती है, इस तथ्य का यह प्राचीन पद्य एक उदाहरण है।

राजस्थान में बहुत बडी सख्या में सुभाषित के दोहे लोक-प्रचलित हैं। लोग ऐसे दोहो का कहावत के समान प्रयोग कर के अपने कथन को प्रमाण-पुष्ट बनाते हैं। आगे इसी प्रकार के कुछ प्राचीन उदाहरण नमूने के रूप मे दिए जाते हैं। इनसे मिलते हुए पद्य राजस्थानी जन-साधारण मे मिल सकते है —

१ कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु
दूरठिआहवि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु। —हे॰ च॰
(कहा चद्रमा और कहा समुद्र, कहा मोर और कहा मेघ? दूर स्थित होने पर भी सज्जनो का प्रेम ढीला नही होता)

२ सरिहिं सरेहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाणवणेहिं
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सुयणेहिं। —हे॰ च॰
(देश न सरिताओ से, न सरो से, न सरोवरो से और न उद्यान वनों से ही रमणीय होते हैं, वे तो स्वजनो के बसने से ही रमणीय होते है।)

३ बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ
जइ इच्छहु वड्डत्तणउ देहु म मग्गहु कोइ। —हे॰ च॰
(राजा बलि के यहा मागने से स्वय मधु-मथन विष्णु भी छोटे हुए। यदि कोई भी बडप्पन चाहता है तो देवे ही मागे कभी भी नही।)

४ जीविउ कासु न वल्लहउ धणु पुणु कासु न इट्ठु
दोण्णिवि अवसर निवडिआइ तिण सम गणइ विसिट्ठु। —हे॰ च॰
(जीवन किसको प्रिय नही? इसी प्रकार धन किसको इष्ट नही? परन्तु समय आने पर विशिष्ट व्यक्ति इन दोनो को ही तिनके के समान समझते हैं।)

इस साहित्य सामग्री में पुराण कथाओ के पात्रो से सम्बन्धित अनेक पद्य है और ये बडे रोचक हैं। यहा कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं —

१ मइ भणिअउ बलिराय तहु केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु नवि होइ वढ सइ नारायणु एहु। — हे॰ च॰
(शुक्राचार्य—वलिराज, मैंने तुझे कहा कि यह कैसा याचक है? यह ऐसा वैसा नही है, यह तो स्वय नारायण है।)

२ इत्तउ ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि
तो हउ जाणउ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि। — हे॰ च॰

(इतना कह कर शकुनि ठहर गया। फिर दुशासन बोला—यदि मेरे आगे बोले तो मै जानू कि यह हरि है।

३. व्यासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु प्रमाणु
मायह चलण नवन्ताह दिवि दिवि गंगाण्हाणु। — हे० च०
(महर्षि व्यास ऐसा कहते हैं कि यदि श्रुतिशास्त्र प्रमाण है तो माताओ के चरणो मे नमन करने वालों के लिए प्रतिदिन गगास्नान है।)

४. वड रक्खह दाहिण दिसिहि जाइ विदब्भहि मग्गु
वाम दिसिहि पुण कोसलिहि जाहु रुच्चइ तहि लग्गु। — सो० प्र०
(वड के वृक्ष की दाहिनी दिशा मे विदर्भ को मार्ग जाता है और बाईं दिशा मे कोसल को जाता है। जो अच्छा लगे, वही पकड लेना।)

५. निट्ठुर निक्किवु काउरिसु एकुजि नलु न हु भति
मुविव महासइ जेण वणि निसि सुत्ती दमयति। — सो० प्र०
(जिसने महासती दमयती को वन मे रात के समय सोती हुई को छोड दिया, ऐसा निष्ठुर, निष्कृप और कापुरुष एक नल ही है, इसमे कोई भ्राति नही।)

यह आवश्यक नही है कि ऊपर दिए गए दोहे तत्कालीन पुराण कथाओ से बिछुडे हुए ही हो। राजस्थान में अब भी अनेक ऐसे पद्य प्रचलित हैं, जो पुराण कथाओ के प्रसगो से सम्बन्धित हैं या उनके पात्रो के मुख से कहलवाए गए हैं। लोग मौके पर ऐसे पद्य बोलते रहते हैं और जन-साधारण को यह चीज बडी रोचक है। आगे कुछ प्रचलित पद्य इस परम्परा मे दिए जाते है। ये पद्य ऊपर दिए गए प्रसगो से नही मिलते परन्तु इस परम्परा के परिचायक हैं—

१. भली भई मै ना बली बहुलोचन कै सत्थ
मेरो बळ ऐसो भयो, हरजी माड्या हत्थ।

२. हर वडा क हिरणा बडा, सुगन वडा क स्याम
अरजन रथ नै हाक दे, भली करेगो राम।

३ जब लग धड पर सीस है, तब लग देवू न क्वार
धड सूं सिर न्यारो हुया, (भावूं) सारी लेवो सम्हाळ।

४. गरवै मतना गूजरी, देख मटूकी छाछ
नव सै हाथी घूमता, नळ राजा रै बास।

५ राम कवै सुण लिछमणा, ताक लगावो तीर
उतरयां पाछै ना चढै, नरा गिरवरा नीर।

६. राम कवै सुग्रीव नै, लका केती दूर
आळसिया अळगी घणी, उद्दम हाथ हजूर।

७. सुण कुभा रावण कवै, माण भराणा म्रव
पावा पडिया ना रहै, लाखा वाता लक।

इस साहित्य सामग्री मे अनेक दोहे मुंज, भोज, सिद्धराज जयसिंह, खेंगार, लाखा फूलाणी एव ढोला आदि ऐतिहासिक व्यक्तियो से सम्बन्धित है। राजस्थान मे यह प्रवृत्ति बडी प्रवल है और यहा ऐतिहासिक व्यक्तियो के विपय मे अत्यधिक पद्य लोक-प्रचलित हैं। भले ही इन सब के प्रसगो की ऐतिहासिकता निराधार हो परन्तु फिर भी वे जन-साधारण के इतिहास-बोध के परिचायक हैं। लोग इस सामग्री से अपना समय सरस करते हैं और प्रेरणा ग्रहण करते हैं। यहा भोज सम्बन्धी दो दोहे उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जाते हैं—

एक रात नगर मे घूमते समय भोज ने एक दिगम्बर को यह दोहा बोलते हुए सुना—

एक जम्मु नग्गुह गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु
तिक्खा तुरिया न माणिग्रा गोरी गळि न लग्गु। — मे० तु०

इसी प्रकार एक रात राजा भोज ने किसी दरिद्र की स्त्री के मुख से निम्न दोहा कहे जाते हुए सुना—

माणुसडा दस दस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध
मह कन्तह इक्कज दसा अवरि ते चोरहिं लिद्ध। — मे० तु०

इन दोनो दोहो का वर्तमान समय मे चालू रूप इस प्रकार है—

जलम अकारथ ही गयो, भड सिर खड्ग न भग्ग
तीखा तुरी न माणिया, गोरी गल न लग्ग। —१
राजा जिण दिन जलमियो वा ही दस दसी
मेरी बरिया के भयो या ही घसघसी। —२

समय पाकर दूसरे दोहे मे कुछ अन्तर आ गया है और प्रसग भी कुछ बदल गया है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पद्य भो राजस्थान मे राजा भोज के सम्बन्ध मे प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए एक पद्य दृष्टव्य है—

नीची नीची डोकरी कं का काडै खोज
मेरै से तेरै गई सुण रै राजा भोज
तेरै से भी जायगी, जै को कोनी लाधै खोज।

इस साहित्य-सामग्री मे ढोला के नाम का प्रयोग नायक के अर्थ मे हुआ है। राजस्थानी काव्य मे ढोला और मरवण नायक-नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं और यहा इस सम्बन्ध में अत्यधिक सामग्री लोक-प्रचलित है। प्राचीन सामग्री में से दो दोहे यहा उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. ढोल्ला मइ तुहु वारिया मा कुरु दीहा माणु
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होई विहाणु ।—हे. च
२. ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहि देसि ।
हउ झिज्जउ तउ केहि पिअ तुहु पुणु अन्नहि रेसि ।—हे च

(ढोला ! मैंने तुझे निवारण किया है कि तू दीर्घ मान न कर। नींद मे रात बीत जाएगी और झटपट सवेरा हो जाएगा।
ढोला ! बतला, यह परिहास किस देश मे है ? मैं तेरे लिए छीज रही हूँ और तू अन्य के लिए ऐसा करता है।)

राजस्थानी जन-काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' सुप्रसिद्ध है। नही कहा जा सकता कि ऊपर दिए गए प्राचीन दोहे इस काव्य की कथा से सम्बन्धित हैं परतु फिर भी वे वर्तमान काव्य की नायिका मालवणी के मुख से कहे गए निम्न दोहो का स्मरण करवाते हैं —

ढोला श्रामण दूमणउ, नख ती खोदइ भीति
हम थी कुण छइ आगळी, वसी तुहारइ चीति ।—२३७
साहिब रहउ न राखिया, कोडि प्रकार कियाह
का था कामिण मन वसी, का म्हा दूहवियाह ।—२३५

इस प्राचीन साहित्य सामग्री में एक समस्यापूर्तिमूलक दोहा इस प्रकार है —

बिम्बाहरि तणु रयणवणु किह ठिउ सिरि आणन्द
निरुवम रसु पिए पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ।—हे. च

(हे श्री आनद ! विम्बफल के समान अधर के ऊपर रदन-व्रण कैसे स्थित हुआ ? प्रियतम ने निरुपम रस पीकर मानो शेष पर मुद्रा लगा दी है।)

जन-श्रुति है कि सिद्धराज जयसिंह की सभा मे आनद और करमानद दो कवि थे, जिनमें से एक प्रश्नात्मक समस्या रखता और दूसरा उसकी उत्तर के रूप मे पूर्ति करता। इस विषय मे स्व० झवेरचद मेघाणी ने अपने ग्रथ 'चारणो अने चारणी साहित्य' में कई जगह चर्चा की है। ऊपर का प्राचीन दोहा भी प्रश्न और उत्तर के रूप में ही है। यह परम्परा गुजरात एव राजस्थान में अब भी प्रचलित है। उदाहरण देखिए —

१ आणद के करमाणदा, माणसे माणसे फेर ?
एक लाखु देतां नव मळे, एक टका ना सेर
२ आनद कवे परमानदा, गांव मे केहडी गल्ल ?
नर नै छोड़े मार कर, ये गावें टोडरमल्ल

इन दोनो दोहो के समान 'आनद' का नाम प्राचीन दोहे में मौजूद है, परन्तु उसमें 'करमानद' एव 'परमानद' का उल्लेख नही है। जन-साधारण की

यह विशेष प्रवृत्ति है कि लोग प्राचीन प्रसगो में वृद्धि कर लेते हैं जिससे उनमें परिवर्तन आ जाता है और साथ ही नए पद्य भी तयार हो जाते हैं। ऊपर लाखा फूलाणी विषयक एक प्राचीन दोहे के गुजराती एव राजस्थानी रूपान्तर दिखलाए गए हैं। परन्तु यह बात यही समाप्त नही हो गई। गुजरात एव राजस्थान में इसी विषय का प्रसग बदल कर और भी नए दोहे बढा लिए गए हैं और वे बडे ही रोचक हैं।[1] यहा एक अन्य उदाहरण इस विषय मे और प्रस्तुत किया जाता है -

शंखपुर के राजा पुरदर के यहा एक सरस्वती कुटुम्ब आता है और उसके द्वारा राजा की दो समस्याओ की पूर्ति इस प्रकार की जाती है—

१. रावण जायउ जहि दियहि दह मुह एक सरीरु
चिताविह तइयहि जणणि 'कवणु पियावउ खीर'।

२. कोइवि विरहकरालियहे उड्डावियउ वराउ
इउ अच्चभुउ दिट्ठु मइ 'कंठि वलुल्लइ काउ'।—मो प्र

प्रबन्ध-चिन्तामणि मे यही प्रसग राजा भोज के सम्बन्ध मे कहा गया है और समस्याओ की पूर्ति भी इसी रूप में है—

१ जइ यह रावणु जाईयउ दह मुह इक्कु सरीरु
जणणि वियम्भी चिन्तवइ 'कवणु पियावउ खीरु'।

२ काए वि विरहकरालिइ पइ उड्डावियउ वराउ
सहि अच्चभुउ दिट्ठु मइ 'कण्ठि विलुल्लइ काउ'।

यही प्रसग अब भी राजस्थान में कहा-सुना जाता है परन्तु उसमे न पुरदर का नाम है और न भोज का। एक राजा को एक पक्षी चार समस्याएँ देता है। उनकी पूर्ति राजा की सभा का कोई पण्डित नही कर पाता है। अत में किसी ब्राह्मण की पुत्री द्वारा उनकी इस प्रकार पूर्ति की जाती है—

राजा रावण जलमियो, दस मुख एक सरीर
जननी नै सासो भयो, 'किण मुख प्यावू खीर'।—१
गधारी सो जलमिया, कु ता पाच जणेह
पाचा भारथ जीतियो, 'काहे करै घणेह'।—२
रैण तळाई बैण बड, कायर हत्थ खडग्ग
गैंची जोबन सूम धन, 'कारज किण विध लग्ग'।—३

---

[1] द्रष्टव्य, वरदा (वर्ष ३, अक ३) मे लेखक का 'एक धारा, दो प्रवाह' शीर्षक लख।

वरस पचास वोळाइया, वाला घण परणेह
वा रहाणी भोगसी, 'ता अव काइ करेह' ।—४

इस साहित्य-सामग्री में सिद्धराज जयसिंह द्वारा खेंगार के मारे जाने पर उसकी रानी के मुख से प्रकट किए गए अनेक शोकोद्गार हैं। इस प्रसग के ये पद्य परिवर्तित रूप में गुजरात में अब भी प्रचलित हैं। राजस्थानी लोक गीतों में भी खेंगार का नाम बहुत अधिक आता है। इसी प्रकार इस प्राचीन सामग्री में मुंज और मृणालवती की प्रेम-कथा से सम्बन्धित भी अनेक दोहे हैं। राजस्थान एव गुजरात में अनेक दोहामयी प्रेम-कथाएँ लोक-प्रचलित हैं जो इसी प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित हैं। स्व० मेघाणीजी ने अपने ग्रथ 'सोरठी गीत-कथाओं' में ऐसी अनेक प्रेम-कथायें दी हैं। इनमें से कई राजस्थानी रूप में भी प्राप्त हैं और बडी जन-प्रिय हैं। लोग कथा कहते चलते हैं और बीच-बीच में प्रसगानुसार दोहों का प्रयोग कर के उसको रसपरिपूर्ण बना देते हैं। ये दोहे गाए भी जाते हैं। यदि किसी कथा में अधिक दोहे या सोरठे होते हैं तो वे सब मिल कर एक काव्य-सा विदित होते हैं। स्वर्गीय मुंशी अजमेरीजी ने 'ढोला मारू रा दूहा' काव्य की आलोचना करते समय लिखा है[1]— इसके दोहों का कलेवर इतना अधिक बढ गया है कि कथा-भाग एक प्रकार से चलता चलता है। फिर भी यह बात नहीं है कि गद्य की आवश्यकता कहीं भी प्रतीत न होती हो, वह तो यत्र तत्र प्रतीत होती है। इसी से मैं कहता हूँ कि यह गद्य वार्ता के दोहों का सग्रह है।' इसी रूप में मुंज विषयक प्राचीन दोहे हैं। मुंज और मृणालवती की प्रेम-कथा प्रसिद्ध है। यहा उसके कुछ चुने हुए दोहे नमूने के तौर पर दिए जाते हैं—

१ मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वन गयु न झूरि
जइ सक्कर सय खंड किय तो इस मीठी चूरि।

२ झोली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छार पुंज
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मक्कड तिम मुंज।

३ जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ।

४ सायर खाई लंक गढ गढवइ दस सिरि राउ
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ।—मे. तु

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, पृ० ४०६–४१०

(मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! गए हुए यौवन को स्मरण करके चित्त मे दुःख न कर। यदि शक्कर (की बनी हुई चीज) के सौ टुकडे हो जाएँ तो यह चूर्ण होने पर भी मीठी ही होती है।)

(यह मुज (बचपन मे) झोली के टूटने से गिर कर क्यो न मर गया या अग्नि मे जल कर राख क्यो न हो गया, जो इस प्रकार रस्सी से बधे हुए बदर की तरह घूमता है।)

(मुज कहता है कि हे मृणालवती ! जो बुद्धि पीछे पैदा होती है वह यदि पहले ही उत्पन्न हो जाय तो कोई विघ्न आ कर नही घेर सकता।)

(हे मुज ! इस प्रकार खेद न कर। भाग्य-क्षय होने पर वह रावण भी नष्ट हो गया था जिसका गढ तो लका था, जिस गढ की खाई समुद्र थी और जिस गढ का स्वामी वह स्वय दस मस्तक वाला रावण था।)

इस साहित्य-सामग्री में तत्कालीन लोक कथाओ सम्बन्धी अच्छी सूचनायें है। यह नही कहा जा सकता कि किसी भी प्रदेश मे प्रचलित एक लोक कथा कितनी पुरानी हो सकती है। क्योकि लोक कथाये स्थान एव समय की सीमाओ को नही मानती और वे पीढी दर पीढी चलती ही रहती है भले ही इस प्रक्रिया मे उनका रूप-परिवर्तन हो जाए। राजस्थानी लोक कथाओ मे पद्यो का प्रयोग करने की विशेष परिपाटी है जो पुराने जमाने से चली आ रही है। इनमे से कई पद्य बीजश्लोक के समान होते है, जिनमें कथा की सार-सूचना समाई रहती है। इस सामग्री मे से ऐसे दो पद्य द्रष्टव्य हैं—

१ नरवइ आण जु लघिहइ वसि करिहइ जु नरिंदु
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु

२ सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कु वि जिणिहइ सत्तु
कुमरि पियकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु।—सो प्र

(जो नरपति की आन का उल्लघन करेगा जो नरेन्द्र को वश मे करेगा और जो कुमारी कनकवती का हरण करेगा, वह यहा नरेश होगा।

जो सिंह को दबा कर उस पर सवारी करे और जो अकेला ही शत्रुओ को विजय करे उसे कुमारी प्रियकरी दे कर समस्त राज्य समर्पण कर दो।)

इसी प्रकार आगे तत्कालीन दो लोक कथाओ के पद्य और प्रस्तुत किए जाते हैं जो राजस्थान में अद्यावधि लगभग उसी रूप मे प्रचलित है—

एक कावड ढोने वाले को उसकी स्त्री समझाया करती थी कि वह देव-पूजा करे जिससे कि अगले जन्म मे दारिद्रय दुःख न हो। परन्तु वह नही माना तो उसकी स्त्री ने नदी-जल एव पुष्प से पूजा की। वह उसी दिन बीमार हो कर मर गई और अगले जन्म मे राजकन्या तथा राजरानी बनी। एक बार उसने

अपने पूर्व जन्म के पति को मंदिर मे उसी अवस्था मे देख कर पहिचान लिया और यह दोहा कहा—

> अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न वूहा हत्य
> अव्वो तह कव्वाडियह अज्ज विसज्जिय वत्य

(अटवी के पत्ते और नदी का जल सुलभ था तो भी तूने हाथ नही हिलाए । हाय, आज उस कावड वाले के तन पर वस्त्र भी नही हैं ।)

राजस्थानी महिला समाज मे कार्तिक मास मे अनेक पुण्यमयी कहानियां कही जाती हैं । उनमें से कठियारा-कठियारी की कहानी ऊपर दी गई कथा से लगभग ज्यो की त्यो मिलती है । उसका पद्य इस प्रकार है—

> कातिगडै नह न्हाइया, हर नह जोडया हत्य
> सायघण बैठी समदरा, तेरी वा ही गत्त ।

इसी प्रकार एक अन्य प्राचीन लोक कथा मे एक बहू पशु-पक्षियों की भाषा जानती है । आधी रात के समय एक गीदड नदी के किनारे बोलता है कि बहने वाले मुर्दे के गहने कोई ले लेवे और वह मुर्दा उसे दे देवे । बहू उठ कर चल पडती है और उसका श्वसुर छिपे तौर पर पीछे जाता है । लौटते समय श्वसुर उसे देखता है और अ-सती समझ कर उसे उसके पीहर पहुँचाने ले जाता है । मार्ग मे एक कौआ एक पेड के नीचे निधि होने की सूचना देता है । इस पर बहू कहती है—

> एक्के दुन्नय जे कया तेहि नीहरिय घरस्स
> बीजा दुन्नय जइ करउ तो न मिलउ पियरस्स ।—सो. प्र.

(एक दुर्नय किया जिसके कारण घर से निकली और अब यदि दूसरा दुर्नय करूं तो कभी भी प्रिय से न मिलूं ।)

लगभग इसी रूप मे यह लोक कथा अब भी राजस्थान मे प्रचलित है । वह इस प्रकार है—

> कोक पढंती कामणी, जम्बू सुगन विचार
> नदी मे मुरदो बवं, लाल जार मे प्यार ।—१
>
> कोक पढंती कामणी, कागा सुगन विचार
> दस बिरदां की मूठ मे, चरू गडी है च्यार ।—२
>
> बुध करणी बुध करम गत, बुध पूरबला भाग
> थो जम्बू तो या करी, तूं मे करसी काग ।—३

अन्य रूप

आगे जम्बुक बोलियो, पिया जो मानो रीस
अब कागो ऐसी मवै, नो तै'रा वाईस ।—१

लोक-जीवन के अध्ययन के लिए लोक-साहित्य सर्वोत्तम साधन है। राजस्थानी के आदिकालीन लोक-साहित्य मे तत्कालीन जन-जीवन के स्वाभाविक चित्र हैं। ये चित्र बडे मनमोहक हैं। आगे इस विषय मे कुछ उदाहरण दिए जाते है। ध्यान रखना चाहिए कि राजस्थान का वर्तमान जीवन भी तत्कालीन समाज के अधिकाश उपलक्षणो को धारण किए हुए है—

पायहि जम्महि अन्नहि वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु
गय मत्तह मत्तह चत्तङ्कुसह जो अब्भिडहि हसन्तु ।—हे च.

(हे गौरी, मुझे इस जन्म मे और अन्य मे भी ऐसा पति दीजिए, जो त्यलाङ्कुश मत्त गजो से हँसता हुआ आ भिडे ।)

इस साहित्य-सामग्री मे योद्धा-जीवन के अनेक ज्वलत चित्र हैं। कुमारी यथार्थ वीर की पत्नी बनने के लिए कामना करती है। इसी प्रकार वीर-वधू के भी अनेक उद्गार हैं। रणक्षेत्र मे योद्धा जो दृश्य उपस्थित करते थे उनके भी वास्तविक चित्र इन दोहो मे कई स्थानो पर हैं। वीर पुरुष अपने स्वामी के लिए प्राण-विसर्जन करना परम धर्म समझते थे। इसी प्रकार मनस्विता, तेजस्विता, उदारता आदि गुणो से सम्पन्न दिव्य व्यक्तित्व भी इन दोहो मे अनेकश प्रकट हुआ है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि समस्त राजस्थानी साहित्य का प्रधान स्वर यही है जो इन दोहो मे प्रमुख रूप से गूज रहा है। राजस्थानी कवियो ने इसी विचार-परम्परा को अनेक प्रकार से विस्तार देकर अपनी वाणी को धन्य किया है। ऊपर दिए गए दोहे मे गौरी की पूजा का प्रसग है। होलिका-दहन के दूसरे दिन से राजस्थानी महिलाएँ सौलह दिन तक यह पर्व बडे ही उत्साह तथा चाव से मनाती हैं। इन दिनो मे समस्त राजस्थान 'गणगोर' के गीतो से गूजने लगता है।

२ आभरण - किरण - दिप्पत देह
महरीकिय सुरबहू रूप रेह
घण - कुकुम - कद्दम पर - दुवारि
खुप्पत - चलण नच्चति नारि ।—सो प्र.

(आभूषणो की किरणें जिनकी देह पर दिप्यमान हैं, जिन्होने सुर-वधुओ के रूप को भी नीचा कर दिया है और जिनके पैर दरवाजे पर गहरे कुकुम के कीचड मे फिसल रहे हैं, ऐसी नारिया नाच रही हैं।)

इस पद्य में विवाह के बधावे का चित्रोपम वर्णन है। राजस्थान में प्रत्येक मांगलिक कार्य के साथ बधावे गीत अनिवार्य रूप से गाए जाते हैं और ऐसे गीतों की संख्या भी बड़ी है। इनमें सुख, समृद्धि, सौहार्द एव उल्लास का अनुपम वर्णन रहता है। ऊपर दिए गए पद्य का आनन्दोल्लास भी असाधारण है। साथ ही इसमें 'घण कुंकुम कद्दम घर दुवारि' की भी चर्चा है। श्रीकृष्ण की बरात के द्वारिका लौटने का वर्णन महाकवि पृथ्वीराज राठौड़ ने अपने 'वेलि' काव्य मे इस प्रकार किया है—

> बधाउम्रां गृहे गृहे पुरवासी
> दळिद्र तणौ दीधौ दळिद्र
> ऊधव हुआ अखित उछळिया
> हरी द्रोब केसर हळिद्र ।—१४२

राजस्थान मे अब भी विवाह आदि आनन्दोत्सवों पर केशर, रंग अथवा गुलाल आदि डालने की प्राचीन प्रथा चली आ रही है। यहा 'गुलाल उडणो' (अथवा उछळणो) मुहावरे का अभिप्राय ही आनद मनाना है।

३. खग्ग विसाहिउ जहि लहहु पिय तहि देसहि जाहु
रणदुब्भिक्खे भग्गाइ विणु जुज्झें न बलाहुं ।—हे. चं.

(हे प्रिय, जहा खड्ग चला कर जीविका निर्वाह हो, उस देश को चलें। हम रण-दुर्भिक्ष के कारण भाग कर आए हुए हैं, अतः बिना युद्ध वापिस लौट कर नहीं जायेंगे।)

यह दोहा एक वीरांगना की अपने वीर पति के प्रति उक्ति है जो राजस्थान के अति प्राचीन आयुधजीवी अर्जुनायन गण तथा यौधेय गण का स्मरण करवा देती है। यौधेय गण के सिक्कों पर एक ओर बल्लमधारी पुरुष और दूसरी तरफ शस्त्रधारिणी स्त्री की आकृति उभरी हुई मिलती है, जो इस गण की युद्ध-प्रवृत्ति की द्योतक है। दोहे की दूसरी पंक्ति से राजस्थानी जन-जीवन की वह स्थिति लक्षित होती है जब दुर्भिक्ष के समय यहा के लोग अपना स्थान छोड कर अन्यत्र चले जाते हैं और फिर सुकाल होने पर वही वापिस लौट आते हैं।

४. सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मणियडा न वीस
तो वि गोट्ठडा कराविआ, मुद्धए उट्ठबईस ।

(सिर पर तो फटी-पुरानी लोवड़ी है और गले मे बीस मनके भी नहीं, फिर भी उस मुग्धा ने गोठ के युवकों से उठ-बैठ करवा दिए।)

इस दोहे मे गाव के जीवन का चित्र उपस्थित किया है जिसके दो शब्द 'लोग्रडी' और 'गोट्ठा' विशेष रूप से अब भी चालू हैं। लोवडी (लोमपट्टी) ऊनी चादर है जो यहा के गावो की स्त्रिया ओढती हैं। इसी प्रकार गोठ, गोवाड एव गोहर आदि स्थान हैं। 'गोठ' शब्द का विकसित अर्थ 'प्रीतिभोज' भी चल पडा है।

ऊपर राजस्थानी आदिकालीन लोक साहित्य के कुछ चुने हुए नमूनो पर ही चर्चा की जा सकी है। यह सामग्री अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है, अत इसका विस्तृत अध्ययन किए जाने की नितान्त आवश्यकता है। इससे बहुत अधिक नई जानकारी प्रकाश मे आएगी, ऐसी आशा है।

आदिकालीन राजस्थानी वेलि-साहित्य

प्रो० नरेन्द्र भानावत

वाङ्मय को उद्यान मान कर ग्रथो को—चाहे वे व्याकरण, वेदान्त, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक-अलकार, कोष, इतिहास, काव्य, नीति आदि किसी भी विषय से सम्बन्ध रखने वाले हो—वृक्ष तथा वृक्षागवाची नाम से पुकारने की प्राचीन परिपाटी रही है। 'वल्ली', 'वल्लरी' तथा 'वेलि' सज्ञक रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं। कुछ उपनिषदो में अध्यायो या अध्यायो के विभागो का 'वल्ली' नाम मिलता है। कठोपनिषद् म दो अध्याय और छह वल्लिया हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् म तीन (सात से नौ) प्रपाठक हैं जिन्हें क्रमश 'शिक्षा-वल्ली', ब्रह्मानदवल्ली' और 'भृगुवल्ली' कहा गया है। प्रथम शिक्षावल्ली में ओकारमाहात्म्य के साथ साथ धार्मिक विधानो का वर्णन, द्वितीय वल्ली म ब्रह्मतत्व का विवेचन तथा तृतीय वल्ली मे वरुण द्वारा अपने पुत्र को उपदेश देना वर्णित है।[1] आगे चल कर सस्कृत, अपभ्रश, राजस्थानी, गुजराती तथा व्रजभाषा में वल्लीसज्ञक कई रचनाएँ लिखी गई।

वेलि-नाम—

काव्य-विधाप के नामकरण में कई प्रवृत्तिया काम करती हैं। कभी वर्ण्य-विषय, कभी छन्द, कभी शैली, कभी चरित्र, कभी घटना, कभी स्थान और कभी केवल मात्र आकर्षण-वृत्ति से प्रेरित होकर कवि लोग अपनी रचनाओ का विविध सज्ञाओ से अभिहित करते हैं।[2] 'वेलि' नाम भी उनमें स एक है। इस

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० १४०-१४२ ।
[2] श्री अगरचन्द नाहटा ने 'प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएँ' शीर्षक निबन्ध में ११५ काव्य-संज्ञाओं का परिचय दिया है। देखो—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, पृ० ४१७-४३६ ।

वेलि-नाम-प्रकरण को लेकर विद्वानों में कई मत प्रचलित हैं।[1] उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—

१ वेलियो छन्द के आधार पर 'वेलि' नामकरण की कल्पना करने वाला वर्ग
२ 'वेलि' के आधार पर वेलियो छन्द की संभावना प्रकट करने वाला वर्ग
३ 'वेलि' को विवाह-मंगल-विलास के अर्थ में ग्रहण करने वाला वर्ग
४ वेलि-रूपक' की प्रतिपादना करने वाला वर्ग
५ 'वेलि' को केवल मात्र वीर-वीरांगनाओं के चरित्राख्यान तक ही सीमित रखने वाला वर्ग
६ 'वेलि' को यश और कीर्ति-काव्य के रूप में ग्रहण करने वाला वर्ग
७ 'वेलि' को वल्ली, गुच्छक, स्तवक आदि अध्यायों से स्वतन्त्र-काव्य-विधा के रूप में विकसित मानने वाला वर्ग।

यहां प्रत्येक वर्ग की आलोचना-प्रत्यालोचना करना अप्रासंगिक होगा। ऐसा समझ कर समग्र रूप से वेलि साहित्य की सामान्य-विशेषताओं का उल्लेख भर किया जा रहा है।

१ वेलि-काव्य की परम्परा काफी पुरानी और प्रसिद्ध रही है। यही कारण है कि कवि लोगों ने रचनाओं के प्रारंभ या अन्त में 'वरणों वेलि भत' आदि कह कर काव्य-रूप की ओर संकेत कर दिया है।

२ वेलि काव्य का वर्ण्य विषय प्रमुख रूप से देव तुल्य श्रद्धेय पुरुषों का गुणगान करना रहा है। ये पुरुष राजा, महाराजा, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, सती, धर्माचार्य, लोक देवता आदि रहे हैं। जैन-वेलियों में जहां उपदेश दिया गया है वहां भी प्रारंभ तथा अन्त में तीर्थंकर धर्माचार्यादि का प्रायः स्तवन कर लिया गया है।

३ गेयता इस काव्य का प्रमुख गुण है। जैन साधु इसकी रचना कर बहुधा गाते रहे हैं। पाठ (पारायण) करने की परम्परा भी रही है। पृथ्वीराज ने अपनी वेलि में पाठ विधि तक दी है।[2] आई पंथ में लौकिक वेलियां अब भी गाई जाती हैं।

---

[1] देखो लेखक का 'वेलि का नामकरण तथा वेलि साहित्य का विकास' लेख : 'राजस्थान-भारती' (पृथ्वीराज विशेषांक) पृ० ५१-६७।

[2] महि सुइ खट मास, प्रात जलि मजे
अप-सपरस-हरू, जित-इन्द्री
प्रामइ वेलि पढ़ता नित प्रति
श्री वंछित वर वंछित श्री (२८०)

४ वेलि काव्य-स्तोत्रो का ही एक रूप प्रतीत होता है जिसमे दिव्य पुरुषों के साथ-साथ लौकिक पुरुषों का वीर-व्यक्तित्व भी समा गया है। रचना के प्रारम्भ या अन्त मे वेलिकारो ने वेलि माहात्म्य बतलाया है। ऐतिहासिक चारणी वेलियाँ प्रशस्ति बन कर रह गई हैं। उनमे कही भी अन्तःसाक्ष्य के रूप मे 'वेलि' नाम नही आया है। वहाँ 'वेलियो' छन्द मे रचित होने के कारण ही उन्हें 'वेलि' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है।

५ वेलि काव्य विविध छन्दो मे लिखा गया है। जैन वेलियो मे ढालो की प्रधानता है, अन्य मात्रिक छन्द भी अपनाये गये हैं, चारणी वेलियाँ छोटे साणोर के भेद वेलियो, सोहणो, खुडद साणोर मे ही लिखी गई हैं।

६ वेलि-काव्य मे दो प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं। एक साहित्यिक डिंगल अलकारो से लदी हुई और दूसरी बोलचाल की सरल राजस्थानी अलकारविहीन पर मधुर और सरस। पहली प्रकार की भाषा चारणी वेलियो का प्रतिनिधित्व करती है, दूसरे प्रकार की भाषा जैन तथा लौकिक वेलियो का।

७ प्रबन्धात्मकता वेलि काव्य की एक विशेषता है। गीत-शैली होते हुए भी प्रबन्ध-धारा की रक्षा हुई है। मुक्तक के शरीर मे भी प्रबन्ध की आत्मा है।

८ प्रारम्भ मे मगलाचरण और अन्त मे स्वस्ति वचन वेलि काव्य की एक सामान्य विशेषता है।

आदिकालीन राजस्थानी वेलि साहित्य

बीकानेर के राठौड कवि पृथ्वीराज की 'क्रिसन रुक्मणी री वेलि' इतनी लोकप्रिय रही कि आलोचक पृथ्वीराज को ही वेलि-परम्परा का प्रवर्त्तक मानने लग गये[1]। पर यह कथन साधार नही है। पृथ्वीराज से पूर्व कई चारणी तथा जैन वेलियाँ लिखी गई। यो सस्कृत साहित्य से वेलि-परम्परा का सीधा सम्बन्ध जोडा जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से सर्वप्रथम रचना रोडा कृत 'राउल वेल' है जिसका समय ११ वी शती के लगभग का है। १५ वी शती मे कतिपय लौकिक वेलियो का पता चलता है। सोलहवी शती मे आकर वेलि

---

[1] पृथ्वीराज का यह ग्रंथ (वेलि) एक परम्परा की स्थापना करता है जिसे राजस्थान तथा ब्रजमण्डल के भक्त कवियों ने आगे तक निबाहने का प्रयत्न किया है। पृथ्वीराज के द्वारा लगाई हुई इस वेलि को ये भक्त कवि नित्य सींचते रहे।

—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, स्वसपादित वेलि, भूमिका पृ० ४७.

काव्य की सर्जना व्यवस्थित रूप से होने लगती है। १७ वी और १८ वी शती तो वेलि-काव्य के लिए स्वर्ण-युग है। यहां हम १६ वी शती तक की 'वेलि' संज्ञक रचनाओं का सामान्य परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

स्थूल रूप से आलोच्य-काल की रचनाओ के दो वर्ग हैं—

(१) लौकिक वेलि साहित्य

(२) जैन वेलि साहित्य

चारणी वेलि साहित्य का प्रणयन १७ वी शती से होने लगता है। अत उसके बारे मे यहां विचार नही किया गया है।

लौकिक वेलि साहित्य के अन्तर्गत आलोच्य काल की निम्नलिखित वेलियां आती हैं—

रचना	रचनाकार	रचना-काल
१ रामदेवजी री वेल	सत हरजी भाटी	१५ वी शती
२ रूपादे री वेल	सत हरजी भाटी	१५ वी शती
३ रत्नादे री वेल	तेजो	१५ वी शती के आसपास
४ तोलादे री वेल	अज्ञात	१५ वी शती के आसपास
५ आईमाता री वेल	सत सहदेव	स० १५७६

जैन वेलि साहित्य के अन्तर्गत आलोच्य काल की निम्नलिखित वेलियां आती हैं—

६ चिहुगति वेलि	वाछा	सं० १५२० मे पूर्व
७ जम्बूस्वामी वेल	सीहा	स० १५३५ से पूर्व
८ रहनेमि वेल	सीहा	स० १५३५ से पूर्व
९ प्रभव जम्बूस्वामी वेलि	—	स० १५४८ से पूर्व
१० कर्मचूर व्रत कथा वेलि	सकलकीर्ति	१६ वी शती का प्रारभ
११ पचेन्द्री वेलि	ठकुरसी	स० १५५०
१२ नेमिश्वर की वेलि	ठकुरसी	स० १५५० के आसपास
१३ गरभ वेलि	लावण्यसमय	स० १५६२-८९ के लगभग
१४ क्रोध वेलि	मल्लिदास	१६ वी शती
१५ वेलि	छीहल	सं० १५७५-८४ के आसपास
१६ भरत वेलि	देवानदि	१६ वी शती
१७ वल्कल चीर ऋषि वेलि	कनक	१६ वी शती
१८ नेमि परमानद वेलि	जयवल्लभ	१६ वी शती

१—राउल वेल[1]:—जैसा कि हम लिख चुके हैं रोडा कृत 'राउल वेल' वेल नाम की सर्व प्रथम रचना है। यह एक शिलांकित भाषा काव्य है जो बम्बई के प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम मे विद्यमान है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इसका समय ११ वी शती है। इसका रचयिता रोडो (रोडे राउलवेल वखाणी) जो चरित्र-नायक का वदीजन प्रतीत होता है। प्राप्य ४६ पंक्तियो मे ६ नायिकाओ का नखशिख-वर्णन किया गया है जो सिर से प्रारभ होकर पैरो तक चलता है। ये नायिकाएँ नायक की नव विवाहित पत्नियाँ या रखेलियाँ हैं। वर्णन आलंकारिक है। उसके पढने से कवि की सरसता, भावुकता और अपूर्व कल्पना शक्ति का पता लगता है। भाषा शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कृति है।

२—रामदेवजी री वेल[2] —इसके रचयिता सत हरजी भाटी पन्द्रहवी शती के भक्त कवियो मे से थे। ये जोधपुर जिले के ओसिया नामक गाव से तीन कोस दूर स्थित 'पडितजी की ढाणी' के निवासी थे। ये भाटी कुल के राजपूत उगमसिंहजी के पुत्र थे। रामदेवजी के भक्तो मे इनका अन्यतम स्थान है। साधु के वेष मे स्वय रामदेवजी ने इन्हे दर्शन दिये थे। प्रस्तुत वेल में रामदेवजी (स० १४६१-१५१५) के चमत्कारिक जीवन प्रसगो का वर्णन किया गया है। राक्षसराज भैरववध का विस्तारपूर्वक वर्णन कर कवि ने रामदेवजी के अलौकिक वीर व्यक्तित्व की व्यजना की है। इस वेलि मे कुल २४ पद्य हैं।

३—रूपादे री वेल[3] —इसके रचयिता भी वे ही सत हरजी भाटी हैं जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रस्तुत वेल म मारवाड नरेश राव मल्लिनाथजी (मृत्यु स० १४५६) और उनकी रानी रूपादे के जीवन-प्रसगो की मार्मिक विवेचना की गई है। कथा ऐतिहासिक है पर उसे आश्चर्यजनक

---

[1] प्रकाशित (क) भारतीय विद्या (भाग १७, अंक ३-४, पृ० १३०-१४६
—डॉ० भायाणी।
(ख) हिन्दी अनुशीलन (वर्ष १३, अंक १-२, पृ० २१-३८)
—डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

[2] वरदा (वर्ष १, अंक १, पृ० ४३ ४५) शिवसिंह मल्लाराम चोयल

[3] (क) मरुभारती, वर्ष २, अंक २, पृ० ७६-८१।
(ख) शोध पत्रिका, भाग ६, अंक २, पृ० ३७-४२।

तत्वो और कथानक-रूढियो से रग दिया गया है। रुपादे धारू मेघवाल और उगमसी भाटी द्वारा सत-मडली मे आमन्त्रित की जाती है। उसका भक्तिनिष्ठ जीवन भगवान के चरणो मे इतना तल्लीन हो जाता है कि उसके सम्पूर्ण विरोध वरदान बन जाते हैं और स्वय मल्लिनाथ भी उसके मत म दीक्षित होकर अपने को धन्य मानते हैं।

४—रत्नादे री वेल[1] —इसका रचयिता कोई तेजो नामक कवि है—'तेजो (तो) गावे बाई थारो सोलमो'। इसमे जनश्रुति के आधार पर कुलचन्द की रानी रत्नादे की साधुओ के प्रति भक्ति-भावना का वर्णन किया गया है। पडोसिन की शिकायत पर रानी रत्नादे अपने दोनो राजकुमारो आम्बू-जाम्बू सहित सास द्वारा निर्वासित करदी जाती है। जगल में रानी की भगवद्-भक्ति से प्रसन्न होकर देवतादि प्रकट होते हैं। जागरण-कलश की स्थापना की जाती है और अन्ततोगत्वा रानी का समस्त परिवार आ उपस्थित होता है। आई-पथी लोगो में इस वेल का वडा प्रचार है।

५—तोलादे री वेल[2] —इसके रचयिता का पता नही है पर यह वेल जाग-रण के अवसर पर समवेत स्वरो मे न जाने कब से गाई जाती रही है। इसमे तोळादे और जैसल की कथा वर्णित है। दोनो पात्र ऐतिहासिक हैं। जैसल रामदेवजी का समकालीन रहा है। वह तोळादे का सम्पर्क पाकर डाकू से भक्त बन जाता है। आश्चर्य तत्वो और कथानक रूढियो का प्रयोग कर कवि ने कथा को विस्तार दिया है।

६—आईमाता री वेल[3] —इसके रचयिता सत सहदेव १६ वी शती के भक्त कवियो मे से थे। ये आईपथी साधु थ। जाति के ब्राह्मण कहे जाते हैं। इसकी रचना उन्होने सवत् १५७६ की भाद्रपद द्वितीया को की। इसमें आई-माता की जीवन-गाथा वर्णित है। वि० स० १४७२ के लगभग बीका डाभी नामक राजपूत के घर आईजी (जीजी) का जन्म हुआ। यवन बादशाह महमूद खिलजी आईजी पर मुग्ध होकर उनके साथ विवाह करना चाहता था पर चँवरी में ही आईजी के विकराल रूप को देख कर वह उनका सेवक बन गया।

---

[1]श्री शिवसिंह चोयल के सौजन्य से प्राप्त

[2]श्री शिवसिंह चोयल के सौजन्य से प्राप्त

[3]मरुभारती वर्ष ३, अक १, पृ० ६८-७०

अवापुर से नाडलाई, डायलाणा होती हुई यह देवी विलाडा में आकर प्रतिष्ठित हुई। राणा रायमल को मेवाड की गद्दी पर बिठलाने में तथा जाणाजी के पुत्र माधाजी की खोज में चमत्कारिता का प्रदर्शन कर यह सब की पूज्य बन गई। इन्ही के नाम पर आई पथ चल पडा।

७—चिहुँगति वेलिः[1]—इसके रचयिता वच्छ या वाछो सोलहवी शती क प्रारभ में विद्यमान थे। ये वडतपागच्छ ज्ञानसागर सूरि के शिष्य श्रावक थे। सवत १५२० के पूर्व यह वेलि रची गई थी। इसमे चार गतियो—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—का वर्णन कर ससार के प्राणियो को यह सदेश दिया है कि चौरासी लाख जीव-योनियो मे भ्रमण करने के बाद यह मनुष्य-भव मिला है अत जिन-भगवान के पथ पर चल कर आत्म-कल्याण करना चाहिये। इसमें नरक गति की त्रिविध (परमाधामी देवप्रदत्त, क्षेत्र कृत तथा परस्परजनित) वेदनाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन होने के कारण इसका नाम 'नरगवेदनावेलि' भी मिलता है। इसकी कुल छन्द सख्या १३५ तथा १४२ है।

८—जम्बूस्वामी वेलि[2]:—इसके रचयिता सीहा (सिंघदास) १६ वी शती के प्रारभ के कवियो में से थे। सवत १५३५ इसका लिपिकाल होने से यह इससे पूर्व की रचना है। इस वेलि का सम्बन्ध पाचवें गणधर सुधर्मा स्वामी के बाद भगवान महावीर के तीसरे पाट पर विराजने वाले जम्बू स्वामी से है। जम्बू स्वामी ८ स्त्रियो और ९९ करोड स्वर्ण-मुद्राओ की सम्पत्ति छोड कर दीक्षित हुए थे। वि स ४०६ वर्ष पहले य मोक्ष पधारे। इनके बाद कोई केवली उत्पन्न नही हुआ, अत ये चरम केवली कहलाते हैं। १८ छन्दो की इस छोटी सी रचना मे कवि ने सवादात्मक शैली में जम्बूकुमार और उनकी आठ स्त्रियो—समुद्रश्री, पद्मसेना, पद्मश्री, कनकसेना, नलसेना, कनकवती, कनकश्री जयश्री—के उत्तर-प्रत्युत्तर को काव्यबद्ध किया है। जब विवाहोपरान्त जम्बूकुमार दीक्षा लेने के लिये स्त्रियो से विदा लेते हैं तो एक एक स्त्री एक एक कथा सुना कर उन्हें सयम से विरत करने का उपक्रम करती हैं और प्रत्येक का एक एक कथा द्वारा प्रतिवाद करते हुए जम्बूकुमार अपने सकल्प मे विजयी होकर आत्म-कल्याण करते हैं।

---

[1] श्री अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति से

[2] प्रकाशित—जैन युग, पुस्तक ५, अक ११–१२, पृ० ४७३–७४

९—रहनेमि वेल[1] —इसके रचयिता भी सीहा (सिंघदास) हैं। यह सवत १५३५ से पूर्व की रचित है। इसका सम्बन्ध जैनियो के २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के छोटे भाई रहनेमि (रथनेमि) तथा मथुरा के राजा उग्रसेन की पुत्री और नेमिनाथ की वाग्दत्ता राजमती से है। १७ छन्दो में यहा उस प्रसग का वर्णन है जब नेमिकुमार पशुओ के करुण-क्रन्दन से विरक्त होकर दीक्षित हो जाते हैं और राजमती साध्वी बन कर भगवान को वन्दना करने के लिए जाती हैं। अचानक आधी और वर्षा के होने से राजमती एक गुफा मे अपने वस्त्र सुखाती है। सयोग से उसी गुफा मे ध्यानस्थ मुनि रथनेमि राजमती के नग्न-सौन्दर्य को देख कर काम-पीडित हो उससे प्रेम-याचना करते हैं और राजमती उद्‌बोधन देकर उन्हे सयम मार्ग पर अविचल रखती है।

१०—प्रभव जम्बूस्वामि वेलि[2]:—इसके रचयिता का पता नही है। लिपिकाल सवत १५४८ होने से इसकी रचना इससे पूर्व निश्चित है। इसका वर्ण्य-विषय वही है जो सीहाकृत जम्बूस्वामी वेलि का है।

११—कर्मचूर व्रत कथा वेलि[3]:—इसके रचयिता भट्टारक सकलकीर्ति १५ वी शती के अन्त के प्रकाण्ड पडित और साहित्य-सेवियो मे से थे। ये भट्टारक पद्मनदि के शिष्य थे। इस वेलि मे आठ कर्मो—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—को चूर करने के लिए व्रत-विधान बतलाया गया है। कौशाम्बी नगरी मे कर्मषेण ने व्रत द्वारा अपना आत्म-कल्याण किया था। जो इस व्रत की आराधना करता है वह चौरासी लाख जीव-योनियो को पार कर अजर-अमर पद प्राप्त करता है।

१२—पचेन्द्री-वेलि[4] —इसके रचयिता ठकुरसी १६ वी शती के कवियो मे से थे। इनके पिता का नाम छेल्ह था जो स्वय कविता किया करते थे। ये दिगम्बर धर्मावलम्बी थे। इसकी रचना सवत १५५० कार्तिक सुद १३ को की गई (कुछ प्रतियो मे सवत पनरै से पिचासे तेरिस सुद कातिग मासे पाठ भी

---

[1]प्रकाशित— जैन युग, पुस्तक ५, अक ११-१२, पृ० ४७४–७५

[2]सेठ लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्या मदिर अहमदाबाद के नगर सेठ कस्तूरभाई मणिभाई के सग्रहसे ह प्र न १०८३.

[3]दिगम्बर जैन मदिर (पाटोदी) जयपुर : ह प्र. न ११

[4]राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर : ह. प्र न ३६४०

मिलता है) इसमे पाच इन्द्रियो—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय—का स्वरुप एव स्वभाव निरूपित किया गया है। इन्द्रियो के काम-गुणो—शब्द (श्रोत्रेन्द्रिय, रूप (चक्षुरिन्द्रिय), गन्ध (घ्राणेन्द्रिय), रस (रसनेन्द्रिय) और स्पर्श (स्पर्शेन्द्रिय)—के वशीभूत होकर मन सासारिक भोगो मे उलझ जाता है अत कवि का उपदेश है कि मन को इन्द्रियाधीन न कर इन्द्रियो को मन के अधीन करना चाहिये।

१३—नेमिश्वर की वेलि[1]:—इसके रचयिता वे ही ठकुरसी हैं जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रस्तुत वेलि का सम्बन्ध नेमिनाथ और राजमती से है। नेमिनाथ २२ वें तीर्थंकर तथा शौर्यपुर के महाराजा समुद्रविजय के पुत्र थे। ये हरिवश के काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। कृष्ण इनके चचेरे भाई थे। इनका वाग्दान मथुरा के राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती से हुआ था। पिंजडो मे वन्दी पशु-पक्षियो की करुण पुकार सुन कर इन्होने अपनी वरात को वापिस लौटा कर सयम धारण कर लिया था।

१४—गरभ वेलि[2]: —इसके रचयिता लावण्यसमय १६ वी शती के मध्य के समर्थ कवियो मे से थे। ये तपागच्छ के समयरत्न के शिष्य थ। इस वेलि म ११४ छन्द हैं। इसमे गर्भ की पीडाओ का वर्णन कर माता की महिमा गाई गई है। कवि ने जो वर्णन किया है वह आगमानुमोदित—तदुल वयालीय पइण्ण—है। गर्भगत जीव के क्रमिक विकास और जन्मोपरान्त उसकी विविध स्थितियो का मार्मिक वर्णन कवि की भावुकता और अनुभवशीलता का परिचायक है।

१५— क्रोध वेलि[3]:—इसके रचयिता मल्लिदास हैं। ये प० माल्हा के पुत्र थे। इनका निवास-स्थान जयपुर के पास चम्पावती—चाटसू रहा है। इस वेलि की रचना स १५८८ वैशाख की चौथ रविवार को की गई। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ का वर्णन किया गया है। ये चारो कषाय कहलाते हैं। इनके उपशमन के लिए आगमो में क्रमश क्षमा, विनय, सुविचार और सन्तोष की व्यवस्था दी गई है।

---

[1] भट्टारक भडार, अजमेर : ह. प्र. न ५९६

[2] बडा उपासरा : अभयसिंह भडार, बीकानेर ह प्र न २९

[3] श्री परमानद जैन के सौजन्य से प्राप्त

१६—छीहल कृत वेलि[1]:—इसके रचयिता छीहल १६ वी शती के उत्तरार्द्ध के कवियो में से थे। डॉ० मोतीलाल मेनारिया तथा स्व० देसाईजी ने इन्हे जैनेतर कवियो में रखा है पर ये जैन कवि थे। प्रस्तुत वेलि ४ पदो की रचना है जो स० १५७५ और १५८४ के आसपास रची गई होगी। इसमें मन को सासारिक विषय-वासना के वन में न भटका कर जिनेश्वर भगवान.के ध्यान में लगाने का उपदेश दिया गया है।

१७—भरत-वेलि[2]:—इसके रचयिता देवानदि हैं। ये दिगम्बर हैं। यह वेलि भरत से सम्बन्ध रखती है। भरत बारह चक्रवर्तियो में से प्रथम चक्रवर्ती माने जाते हैं। ये भगवान ऋषभदेव के पुत्र और बाहुबली के बडे भाई थे। दर्पण में अपना श्वेत केश देख कर इन्हे ससार से विरक्ति हो गई थी और 'भाव त्यग ग्रही वेस' से ही इनका आत्म-कल्याण हो गया था।

१८—वल्कल चीर ऋषि वेलि[3]:—इसके रचयिता कवि कनक सोलहवी शती के कवियो में से थे। ये खरतरगच्छीय जिनमाणिक्य के शिष्य थे। ७५ छन्दो की इस वेलि का सम्बन्ध राजा सोमचन्द और उसकी रानी धारिणी के पुत्र वल्कलचीरी से है।

वल्कलचीरी का जन्म जगल मे हुआ था। उसका बडा भाई राजर्षि प्रसन्नचन्द्र था। वर्षो बाद दोनो का मिलाप होता है। दोनो सयम-पथ पर आरूढ होकर आत्मा का कल्याण करते हैं।

१९—नेमि परमानद वेलि[4]:—इसके रचयिता जयवल्लभ सोलहवी शती के कवियो मे स थे। ये साघ पूर्णिमागच्छ माणिक्यसुन्दर सूरि के शिष्य थे। ४८ छन्दो की इस वेलि का वर्ण्य-विषय वही है जो ठकुरसी कृत नेमिश्वर की वेलि' का है।

यहा हमने जिन वेलियो का परिचय प्रस्तुत किया है उनसे आदिकालीन राजस्थानी काव्य-धारा की एक विशेष धारा का पता लगता है। आदिकाल और मध्यकाल के बीच अपना स्वरूप ग्रहण कर यह वेलि-काव्य की धारा आगे चल कर अधिक वेगवान बनती है।

---

[1]शास्त्र भडार मदिर गोधा, जयपुर ह प्र न ८१
[2]श्री दिगम्बर जैन मदिर बडा तेरह पथियो का, जयपुर ह प्र. नं २२३
[3]सेठ लाल भाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद के नगरसेठ कस्तूर भाई मणि भाई का सग्रह . ह. प्र न १३४६
[4]वही ह. प्र न. १०८५

जैन प्रबंध-ग्रन्थों में उद्धृत प्राचीन भाषा-पद्य

श्री अगरचन्द नाहटा

लोक भाषा के प्रति जैन विद्वानो का सदा से आदर-भाव रहा है, इसीलिए प्राकृत, अपभ्रंश और उससे निकली हुई अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे जैन साहित्य का सृजन निरन्तर होता रहा। इसलिए प्रान्तीय भाषाओ के विकास का ठीक से अध्ययन करने के लिए जैन साहित्य का अध्ययन बहुत ही उपयोगी और आवश्यक है। जैन विद्वानो ने स्वय तो विविध विषयक विशाल साहित्य की रचना की ही है, उनकी एक दूसरी विशेषता भी बहुत ही उल्लेखनीय है। उन्होने बडे ही उदार-भाव से जैनेतर साहित्य का सरक्षण किया। सैकडो फुटकर रचनाएँ और कई जैनेतर उपकाव्य तो उन्ही की कृपा से अब तक बच पाए हैं। जैनेतर सग्रहालयो म जिन रचनाओ की एक भी प्रति नही मिलती, उनकी अनेको प्रतिया जैन-भडारा मे मिलती हैं। इसके अतिरिक्त अनेको जैन ग्रथो में जैनेतर कवियो के पद्य उद्धृत मिलते है। लोक साहित्य का जितना अधिक उपयोग जैन-रचनाओ मे हुआ है, उतना अन्यत्र कही भी नही मिलेगा। सैकडो लोक-कथाओ के सम्बन्ध में जैन कवियो के काव्य उपलब्ध है। अनेको ग्रथो मे प्रसगवश लोक-कथाएँ सग्रहीत मिलती हैं। हजारो लोक-गीतो के देशियो की तर्ज या चाल मे जैन ढाले, स्तवन सज्झाय, गीत आदि रचे गये। उनके प्रारभ म उन योग्यताओ की पक्ति या पद्य उल्लिखित मिलते है।

१३वी शताब्दी से राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओ मे स्वतन्त्र साहित्य रचा जाने लगा। ऐतिहासिक सामग्री भी इसी समय से अधिक मिलने लगती है। जैन विद्वानो ने इस समय से अनेक ऐतिहासिक प्रवादो और घटनाओ का सग्रह अपने प्रबध सग्रह ग्रथो मे करना प्रारम्भ किया। १६वी शताब्दी तक यह परम्परा बराबर चालू रही। अत इस समय से बीच के कई

उनसे शास्त्रार्थ का विचार किया। एक गाव या जगल में वृद्धवादी उन्हे मिले तो उन्होने शास्त्रार्थ करने को कहा। वृद्धवादी ने कहा कि यहा हार-जीत का निर्णय करने वाला कौन है? इसलिए राज-सभा में चल कर शास्त्रार्थ किया जाय। पर सिद्धसेन को उतावल लगी थी। उन्होने कहा कि आसपास म ग्वालिये खडे हैं, उन्हे ही निर्णायक मान लिया जाय। वृद्धवादी ने कहा— 'अच्छा, तुम अपना पूर्व-पक्ष रखो।' तो उन्होने सस्कृत मे अपना मन्तव्य प्रकाशित किया जिसे बिचारे ग्रामीण ग्वालिये क्या समझते। वृद्धवादी समयज्ञ थे। उन्होने जन भाषा में ही कुछ पद्य बना कर ग्वालियो को सुनाये। इससे वे बहुत प्रभावित हुए और वृद्धवादी की प्रशसा करते हुए उनकी जीत घोषित की। अर्थात् जनसाधारण में तो उन्ही की बोली मे कहे हुए उपदेश-वाक्य सफल एव कार्यकारी होते हैं।

आगे दिए जाने वाले पद्यो मे सबसे अधिक पद्य मुज से लेकर कुमारपाल तक के हैं, जिनका समय ११वी से १३वी शताब्दी तक का है। चारणो के कहे हुए पद्य १२वी शताब्दी से १४वी शताब्दी तक के हैं। इस समय के चारणी-साहित्य की उपलब्धि इन पद्यो के अतिरिक्त और कुछ भी नही होती, इसलिए इन पद्यो का प्राचीन चारण-कविता के उदाहरणरूप मे विशेष महत्व है। मुज और मृणालवती के पद्य ११-१२वी शताब्दी के मालव और राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र की भाषागत एकता के सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो के जो पद्य पृथ्वीराज और जयचद प्रबध मे उद्धृत मिले हैं, उनसे पृथ्वीराज रासो परिवर्तन की मूल भाषा और उसमें हुए परवर्ती परिवर्तन की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। १३वी शताब्दी की भाषा के सम्बन्ध मे उन पद्यो से अच्छा प्रकाश पडता है। आगे दिए जाने वाले अधिकाश पद्य जिन-जिन व्यक्तियो से सम्बन्धित हैं उनका समय निश्चित होने के कारण उन पद्यो के निर्माण का समय अपने आप निश्चित हो जाता है। यद्यपि यह सभव है कि परम्परागत मौखिक रूप से प्रसिद्ध रहने के कारण उनकी भाषा मे कुछ परिवर्तन हो गया हो। और यह भी सभव है कि कुछ पद्य प्रबधोक्त व्यक्तियो के समकालीन कवियो के न होकर परवर्ती कवियो के भी हो, फिर भी ये पद्य काफी प्राचीन हैं और इनसे ५वीं शताब्दी से लेकर १४वीं-१५वी शताब्दी तक की भाषा के विकास की अच्छी सामग्री मिल जाती है। कुछ पद्य अपभ्रश के हैं और कुछ बोलचाल की जन-भाषा के। इनसे अपभ्रश शब्द किस तरह सरल बनते गए, इसकी भी अच्छी जानकारी मिल जाती है। इन पद्यो मे से बहुत गूढ और कठिन तथा गभीर अर्थ वाले

थे। यह प्रभावक-चरित्र में दिए हुए ३ और ४ अर्थों से विदित होता है। वृद्धवादी के कहे हुए एक पद्य के ३ अर्थ और बप्पभट्टसूरि चरित्र में आए हुए १ पद्य के ४ अर्थ प्रभावक-चरित में बतलाए गए हैं।

इन पद्यों में कुछ दूहे-सोरठे हैं, जिनका प्रचार उस समय और उसके बाद भी बहुत अधिक रहा है। दूहा, अपभ्रंश-काल का विशिष्ट छन्द है। थोड़े से शब्दो में बहुत अधिक भावों के प्रकाशन की उसमे क्षमता है। चारण कवियों के कहे हुए हजारों दोहे-सोरठे मिलते हैं। जैन कवियों ने भी इस छन्द को बहुत प्रधानता दी है। उदयराज के ४००, जसराज के २००, मानकवि के ३५०, इस प्रकार एक-एक कवि के सैंकडो दोहे और कुछ सतसइयां एवं प्रबंध-काव्यादि मिलते हैं। ढोला-मारू रा दूहा, माधवानलप्रबध आदि काव्य दोहों मे ही हैं। जैन कवियों के सैंकडों रास चोपाई आदि चरित्र-काव्यों में प्रत्येक नई ढाल के प्रारंभ मे कुछ दोहे अवश्य दिए गए हैं।

उस समय का दूसरा छन्द है—कवित्त, जिसका ६ पंक्तियां होने से षट्पद या छप्पय नाम भी पाया जाता है। १२वी से १६वी शताब्दी तक तो कवित्त छद का काफी प्रचार रहा। आगे दिए जाने वाले पद्यों में सब से प्राचीन छप्पय बप्पभट्टसूरि प्रबंध में उद्धृत मिले हैं। बप्पभट्टसूरि का समय तो ९वी-१०वी शताब्दी का है, पर ये पद्य सभव है, कुछ पीछे के हो, क्योंकि इनका बप्पभट्टसूरि से सीधा सम्बन्ध नही है। पर १२वी शताब्दी के वादिदेवसूरि संबधित छप्पय तो उसी समय रचे गए होगे। देवाचार्य प्रबध मे ऐसे दो छप्पय आए हैं। पर ऐसे कुछ और भी छप्पय इन्ही आचार्य से सबधित वृहद्गच्छ गुरुवावली मे भी पाए जाते हे। हमारे सपादित ऐतिहासिक जैन-काव्य सग्रह मे भी १२वी से १५वी शताब्दी तक के कई छप्पय प्रकाशित हैं। प्राचीन गुर्जर-काव्य संग्रह में रत्नसिंह सूरि-शिष्य रचित 'उवएसमाल कहाणय' नामक रचना ८१ छप्पय छन्दों मे है। सिद्धराज जयसिंह ने रुद्रमहालय नामक विशाल मंदिर बनाया, उसके संबंधित कवि हल्ल या लल्ल रचित ८ छप्पय 'भारतीय विद्या', वर्ष ३ में पहले प्रकाशित हुए थे और अब दूसरी प्रति के आधार से इसी अंक में प्रकाशित भँवरलाल के लेख में पुन प्रकाशित किए जा रहे हैं। पृथ्वीराज और जयचंद सबंधी जो ४ पद्य आगे दिए गए हैं वे भी छप्पय ही हैं। इससे इस छंद की लोकप्रियता का पता चलता है।

आगे दिए जाने वाले पद्य प्रभावकचरित और प्रबंधचिन्तामणि, प्रबंध-कोश, पुरातन प्रबध-सग्रह, कुमारपाल प्रतिबोध और उपदेशशप्तति इन ६

ग्रथो से ही लिए गए हैं और इनमे पूरे नही आ पाए एव कुछ पद्य कई ग्रथो मे उद्धृत मिलते हैं। अभी और ऐसे कई जैन ग्रंथ हैं, जिनमे प्राचीन भापा-पद्य काफी सख्या में उद्धृत मिलते हैं। स० १४९९ मे शुभशीलरचित विक्रमचरित ऐसा ही एक महत्वपूर्ण ग्रथ है। उसमे उद्धृत भापा-पद्य अन्य लेख में प्रकाशित किए जायेंगे। सुभापित सग्रह की कई प्रतियो में प्राकृत सस्कृत पद्यो के साथ-साथ अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के पद्य भी प्रचुर परिमाणो में मिलते हैं। हमारे संग्रह में १६वी शताब्दी की लिखी हुई सुभापितावली नामक जैन ग्रथ की प्रति प्राप्त है, जिसमें पचासो सुभापित जन-भापा के भी हैं। इस लेख मे दिए जाने वाले पद्यो मे भी ऐसे दो-तीन सुभापित आए हैं। फुटकर प्रतियो मे भी ऐसे अनेक सुभापित मिलते हैं, उन सब का सग्रह एव प्रकाशन किया जाना वाछनीय है।

प्रभावक चरित

अणहूल्लीय[1] फुल्ल म तोडहु मन[2] आरामा म मोडहु।
मण[3] कुसुमहि अच्चि निरञ्जणु, हिण्डह काइ वणेण वणु॥

—वृद्धवादिसूरिचरितम्–पृ० ५७, प्रबध कोश. पृ० १८

अर्थ—तथाहि– 'अणु' अल्पमायूल्प पुप्प यस्याः सा'ऽणुपुष्पिका'-मानुप तनु, तस्या. पुप्पाण्यायु खण्डानि तानि मा त्रोटयत, राजपूजागर्वाद्यकुटीभि। 'आरामान्' आत्मसत्त्वान् यमनियमादीन् सन्तापापहारकान् मा मोट्यत-भजयत। मन कुसुमैः क्षमामार्दवाजव सन्तोषादिभिरच्य, निरञ्जनम् - अञ्जनान्यहकारस्थानानि जातिलाभादीनि निगतानि यस्य स निरजन – सिद्धिपदप्राप्तस्त ध्यायतु। 'हिण्डत' भ्रमत 'कथ वनेन वन' मोहादितरगहनेनारण्यमिव ससारस्प गहनमित्येकोऽर्थ ॥ १

अथवा– अणुर्नामाल्पधान्य तस्य पुप्पाण्यल्पविपयत्वान्मानवतनो, सा अणुपुष्पी तस्याः पुष्पाणि महाव्रतानि शीलाङ्गानि च तानि, मा त्रोटयत-मा विनाशयत। मन आराम मोटयत चित्तविकल्पजाल सहरत। तथा 'निरञ्जन' देव मुक्तिपदप्राप्त, म न' इत्यनेन द्वौ निपेधशब्दौ मा च न इच, ततो मा कुसुमैरर्चय निरञ्जन वीतरागम्। गार्हस्थ्योचित देवपूजादौ षड्जीवनिकाय विराधके मोद्यम कुरु, सावद्यत्वात्। 'वनेन' शब्दन कीर्त्या हेतुभूतया, 'वन' चेतनाशून्य (वादरण्यमिव भ्रमहेतुतया मिथ्यात्व शास्त्रजात, 'कथ भ्रमसि' अवगाहसे लक्षणया, तस्मान्मिथ्यावाद परिहृत्य सत्ये तीर्थंकरादिष्टे आदरमाधेहि। इति द्वितीयोऽर्थ. ॥२

अथवा– अणरणेति धातोरण शब्द स एव पुष्पमभिगम्यत्वाद्यस्याः सा'ऽणपुष्पा' कीर्ति। तस्या पुष्पाणि सद्बोधवचासि तानि मा त्रोटयत-मा सहरत। तथा 'मनस आरा' वेधकरूप

---

[1]अणफुल्लिय [2]मा रोवा मोडहि [3]मणकुसुमेहि।

स्वान् मध्यात्मोपदेशरूपात्तान् मा त्रोटयत कुत्स्याख्याभिर्मा विनाशयत। मनो निरंजनं रागादिले-परहितं कुसुमैरिव कुसुमैः सुरभिशीतलैः सद्गुरूपदेशैरर्चय पूजित श्लाघ्य कुरु। तथा वनस्योप-चारात् संसारारण्यस्य, तस्यैनः स्वामी परमसुखित्वात् तीर्थंकृत्, तस्य वनं शब्दसिद्धान्तस्तत्र कथं हिण्डत भ्रान्तिमादधत। यतस्तदेव सत्यं। तत्रैव भावना रतिः कार्या। इति तृतीयोऽर्थः ॥३॥

नवि मारियइ नवि चोरियइ, पर-दारह् गमरणु निवारियइ।
थोवाह् थियोवं दाइयइ, तउ सग्गि टुगुटु गु जाइयइ ॥[1]

—वृद्धवादिसूरिचरितम्, पृष्ठ ६०

तत्ती सीयली मेलावा केहा,
धरण उत्तावली प्रिय मंदसिरणेहा।
विरहिहि[2] माणुसु जं[3] मरइ तसु कवरण निहोरा,
कनि[4] पवित्तडी जणु जाणइ दोरा ॥

—बप्पभट्टिसूरिचरितम्, पृ० ८६; प्रबंधकोश, पृ० ३३

अर्थ—तथाहि—एका लोहपिण्डी वह्निना तप्ता। अर्थात् ज्ञेया। एका शीतला। अनयोर्मीलकः ससर्गः कीदृशः। उभयोरपि तप्तयोरेव सम्बन्धो भवति। इत्यनेन विमुक्तम्-यद्वय रणरणकतप्ताः मय च औदासीन्याज्जितेंद्रियत्वान्निर्लोभत्वाच्च शीतस्तदस्माकमनेन सह कथ मीलक इति। तथा, धना देशीशब्देन पत्नी, सा उत्सुका; प्रियश्च मन्दस्नेह्। ततः कथ मीलको भवति। विरहेण यन्मानुषं म्रियते मृततुल्यं प्राणेऽपि भवति तस्य को निहोरक उप-रोधः, तत्र कृतेपि न जीवनि। मिलित एव प्राणयिनि जीवति। तथा कर्णे पविभिर्केय जनो जानाति दोरक द्विगुणावनितन्तु रूप स्वगीधरस्येति वास्तवार्थः ॥ १ ॥

तथा—तप्तं तपस्तदिच्छतीत्येव शीलस्तवश्चरपोच्छुः स तप्तैषी। तथा, अली भूपाप्रिय एको लक्षणया सकामः। नाकामी मडनप्रियः' इति वचनात्। अनयोर्मीलक विषये का ईहा चेष्टा, किन्तु न कापि। तथा उप्त घन यै स्ते धनोप्ताः आहिताग्न्यादित्वात् क्तान्तपरनिपातः, तेषामावली श्रेणिर्दानेश्वरसमूहस्तस्य प्रियो वल्लभः। दानेश्वराणां हि सत्पात्रेच्छा विशेषतो भवति। स चार्थादाचार्य। स मन्दस्नेहो निर्मोह इत्यर्थः। तथा, विरहे विशिष्टैकान्ते तद्धेतो-

---

[1] नवि मारीयए नवि चोरीयए पर-दारागमरण निवारीयए।
थोवावि हु थोवं दईयए, इम सग्गि टगमगु जाईयए ॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि (विक्रमार्क प्रबन्धा, पृ. ७)

नवि मारियइ नविचोरियइ परदारह् गमरणु निवारियइ।
थोवाथोव थाइयइ सग्गि टुकुटुकु जाइयइ ॥

—प्रबन्धकोशः पृ १६

[2] विरहि [3] जो [4] कण्णि।

म्रियते, लक्षणया तदर्थं सन्तप्यत इत्यर्थः। तस्य वा न होरा मुहूर्तरूपाः। स सर्वदा तस्य विरहे सन्तप्त एवास्ते। स क इति प्रश्नाद्युत्तरे, कन्नि-कान्यकुब्जे, पवितडिसमान:-विद्युत्सम-मस्तेजस्वी, जनो विद्वज्जनो मल्लक्षणः, स जानाति 'दो रा' द्वौ राजानौ। वास्तवेऽर्थे-द्वावेव राजानौ धर्म ग्रामश्च विद्वत्प्रियाविति मच्चित्ते। गूढार्थस्तुएतावता राजन्! त्वया ज्ञेयम्, यद्-गुरुप्रतिज्ञानिर्वाहाय ग्रामोऽत्रायातोऽस्तीति द्वितीयोऽर्थः ॥ २

तथा—तप्ति:— सारा शीतला यत्र. इलथ आदर इत्यर्थ। स तप्तिशीतल:। 'स्वराणा स्वरा: प्रायोऽपभ्रंशे' इतीकार:। तत्र मीलक: कीदृश:। यत:-ध्वनदुक्तावली, चमत्कारि-काव्य श्रेणिरवल्लभा यस्य, अर्थादाचार्य:। सोऽस्मासु मन्दस्नेह'। स उपरोधेन न गृह्यत इत्यर्थः। तथा, विरहे अर्थाद् विपयवियोगे सर्वसंगपरित्यागे सति योऽमरति मानुषः पुरुषः, देववत् सुखी भवति, तस्यः कः स्नेहः सम्बन्धादिपु। निहोरक उपरोध', स उपरोधेन न गृह्यत इत्यर्थः। करणप्रवृत्तिर्दानेश्वरत्वात् कर्णरीतिः। दोरा-दोषा राजते महाबाहुः स ग्राम एव। एव विधमपि सूरिर्जनमिव प्राकृतमिव जानाति न किंचिदित्यर्थः ॥ ३

तथा— तत्त्वानि ईट्टे तत्त्वेशी, अतएव अली सगनिषेधी, तस्य मेल' ससर्ग. तस्य अवो-ऽवाप्ति:। 'स्वराणां स्वरा' इत्याकार:। तथा, के ब्रह्मणि, ईहा चेष्टा, यस्य स केहः—परम-ब्रह्मेच्छः। दीर्घ प्राग्वत। धनयुक्तानामावली श्रेणि.। प्रिया अमन्दस्नेहा अत्ययं प्रीतिर्भवति। विगतरागेषु हि सर्व. प्रीतिमान्। धनवन्तो ऽपि तत्रैव रतिं विदधति। तथा, वि. पक्षी गरुड, स रथो यस्य स विरथो—विष्णुस्तस्मिन्नर्थात् चित्तस्थे, यो म्रियते तस्य को निभः सदृशः। सच रा राजेव एव भवति। गुरौ चित्तस्थे मृत्युरपि इलाघ्य'। तथा, जह्नु नद्या गंगायाः सकाशात् का अन्या पवित्रा। अयमेव भगवान् पूज्यः। तथा, 'दोरा' द्वौ राजानौ संगतौ यस्य स द्विराट् सर्व सामर्थ्ययुक्तो भवानेव यदुचित तद्विधेहीति चतुर्थोऽर्थ. ॥ ४

करवत्तयजलबिंदुआ, पथिय हियइ निरुद्ध।
सा रोअती सभरी, नयरि ज मुकी मुद्ध ॥

—बप्पभट्टिसूरिचरितम् पृ० ८७

छायह कारणि सिरि धरिअ, पच्चि वि भूमि पडंति।
पत्तह इहु पत्तत्तणु, वरतरु[1] काइं करंति ॥

—(बप्पभट्टिसूरिचरितम्, पृ० ८७), प्रबधकोश, पृ० ३१.

गय माणसु चंदणु भमरु, रयणायरु सिरि(ससि ?) खड्डु।
जड उच्छु य बप्पभट्टि किउ, सत्तय गाहासड्डु ॥ बप्प०, पृ० ८७
हंसा[2] जहि गय तहि जि गय[3], महिमंडण हवंति।
छेहउ[4] ताह महासरह[5], जे[6] हंसिहि मुच्चंति ॥ पृ० ८७

—प्रबधकोश', पृ० ३०

---

[1]तरवर [2]हस [3]गया [4]छेहहु [5]सरोवरह [6]ज हंसे।

पमु जेम पुलिंदउ पीअइ जलु, पथिउ वग्गिहिं कारणिण ।
करवेवि करयि मज्जलिण, मुद्धहि असुनिवारणिण ।। पृ० ६१
गयवरकेरइ सरवरइ, पावयसारिउमुत्त ।
निच्चोरी गुजरात जिम्व, नाह न केणइ भुत्त ।। वप्पा०, पृ० ६४

छप्पय– जे चारित्तिहिं निम्मला, ते पंचायण सीह ।
विसयक माईहिं गंजिया, ताह फुसिज्जइ लीह ।।
ताह फुसिज्जइ लीह, इत्यते तुल्ल सीआलह ।
ते पुण विसयविसामद्दलिय गय नरिगिहिं आलह ।।
ते पचायण सीह, सत्ति उज्जल नियवित्तिहिं ।
ते नियकुलनहयलमयंद, निम्मलचारित्तिहिं ।। वप्प० पृ० १००
पंचमहव्वयजुत्त, पंचपरमिट्ठिहिं भत्तउ ।
पंचिंदियनिग्गहणु, पंचविसय जु विरत्तउ ।।
पंचसमिइ निव्वहणु, पगुणगुणु आगमसंदिवणु ।
कुविहि कुमह परिहरइ, भविय बोहिय परमत्थिण ।।
बालीसदोससुद्धासणिण, छव्विह जीयह अभयकर ।
निम्मच्छह केसरि कहइ, पुड तिगुत्तिगुत्तु सो मज्झ गुरु ।। वप्प० पृ० १०४
मुक्की सयल कलत्तपण, निच्चुयलविय हत्थ ।
एहा कहवि गवेसि गुरु, ते तारणह समत्थ ।। पृ० १०४
दोवि गिहत्था घडहड वच्चई को किर कस्स य पत्तु भणिज्जइ ।
सारम्भो सारम्भ पुज्जइ कद्दमु कद्दमेण किम सुज्झइ ।। पृ० १०४

(देखो– प्रबंधकोश, पृ० ४०)

बे धउला बे सामला, बे रत्तुप्पलवन्नं ।
मरगयवन्ना बिन्नि जिण, सोलस कंचणवन्न ।।
नियनियमाणिहिं कारविय, भरहिं जि नयणाणंद ।
ते मइ भाविहिं वंदिया, ए चउवीस जिणंद ।।

(वीरसूरिचरितम् पृ० १३१)

अवरह देवह सिरु पुज्जिअइ, महएवह पुणु लिंगु ।
वनिमा ज जि प्रतिष्टइ, त जणु मन्नइ चंगु ।।

(महेन्द्रसूरिचरितम् पृ० १४२)

पसुवे हडवि विहिंसियइ, निसुणइ साहुक्कारू ।
त जाणइ नरयह दुहह, दिट्ठउ सचवकारु ।। पृ० १४३
हेमसूरि अत्थाणि, ते ईसर जे पंडिया ।
लच्छिवाणि मुहकाणि, सा पइ भागी मुह मरउ ।।

(हेमचन्द्रसूरिचरितम्, पृ० १८७)

कुमारपालादि प्रबंधः, पृ० ६२ । पुरा० प्र० स० पृ० १२५

सउ चितह सट्ठी मणह, बत्तीसडा[1] हियाह ।
अम्मी[2] ते नर डड्ढसी, जे विससइं तियाह ॥
(देखो–पु० प्र० सं०, पृ० १२८)

झोली तुट्टवि कि न मुउ, कि हुउ न छारह पुंज ।
हिण्डइ[3] दोरी दोरियउ, जिम मक्कडु तिम मुंजु ॥
(देखो–पु० प्र० सं० पृ० १२६)

सायर पा (खा) इ सक गढु, गढवइ दस सिर राउ ।
भग्ग स (ख) इ सो भज्जि गउ, मुंज म करसि विसाउ ॥
गय गय रह गय तुरय, गय पायकडानि[4] भिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मन्तणउ, मुहुंता रुद्दाइच्च ॥
(मुंजराजप्रबन्ध, पृ० २३)
पु० प्र० स०, पृ० १२८

मोली[5] मुन्धि म गव्वु करि, पिक्खिवि पड्डुरुयाइं ।
चउदह[6] सइ छहुत्तरइ, मुंजह गयह गयाइं ॥
(देखो–पु० प्र० सं०, पृ० १२६)

च्यार बइल्ला धेनु दुह, मिट्ठा बुल्ली नारि ।
काहूं मुंज कुडंबियाहूं, गयवर बज्झइ बारि ॥
जे चक्का गोला गई, हूं वलि बीजूं ताह ।
मुंज न दिट्ठउ विहलिउ, रिद्धि न दिट्ठ खलाहं ॥
दासिहि नेह न होइ, नाना निरहिं जाणीयइ ।
राउ मुंजेसर जोइ, घरि घरि भिक्खु भमाडीइ ॥
वेसा छडि वडायती, जे दासिहि रच्चति ।
ते नर मुंजनरिन्द जिम, परिभव घणा सहंति ॥
(देखो–मुंजराज प्र०, पृ० १४ भी)

जा मति पच्छइ सम्पज्जइ, सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ ॥
(मुंजराजप्रबन्ध, पृ० २४)

---

[1] बत्तीसडी ।
[2] अम्हे ते नर ढाढसी, जे वीसस्या त्रीआह ।
[3] घरि घरि भिक्ख भमाडीइ (मु० प्र० पृ० १४
[4] पाइक्क थनु (मुंजराजप्रबन्धः. पृ० १४)
[5] मा गोलिणि मनगव्वु करि ।
[6] पचइ सइ छिहुत्तरां (मु० प्र०, पृ० १५)

जईयह[1] रावणु जाईयउ, दहमुहु इक्कु सरीरु ।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ, कवणु पियावउ खीरु ॥
(पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ११८)

कवणिहिं विरहकरालियइ, उड्डाविउ वराउ ।
सहि अच्चंब्भुअ दिट्ठु मइं, कण्ठि विलुल्लइ काउ ॥
(भोज-भीमप्रबन्ध, पृ० २८)

एहु जम्मु नग्गह गियउ, भडसिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खा तुरिय न वाहिया[2], गोरी गलि[3] न लग्गु ॥ पृ० ३२
नवजल भरीया मग्गडा, गयणि धडुक्कइ मेहु ।
इत्थन्तरि जइ आविसिइ, तउ जाणीसिइ नेहु ॥ भो०, पृ० ३२ टि०
भोय एव गलि कण्ठलउ, भू भल्लउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि, सीम विहंची काइ ॥ पृ० ४५
मार्उलिगु बइ वुच्चउ, वुच्चउ इउ मइ कहिउ लोहह समच्चउ ।
भोएव पुहविहिं गउ, अवरु न वुच्चइ बीजउ राउ ॥ पृ० ४५ टि०
माणुसडाँ दस दस दसा, सुणियइ[4] लोयपसिद्ध ।
मह कन्तह इक्क ज दसा अवरि ते चोरहिं लिद्ध ॥ पृ० ४७
(पुरा० प्र० स०, पृ० १२१

माणसडा दस दस हुवइ, दैविहिं निम्मवियाइ ।
मह कत इक्कइ जि दस, नव चोरिहिं हरियाइ ॥ पृ० ४७ टि०
कसु करु रे पुत्त कलत्त धी, कसु करु रे करसणवाडी ।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथ पग बेहु झाडी ॥ पृ० ५१

सिद्धराजस्तु समुद्रोपकण्ठवर्ती एकेन चारणन—
को जाणइ[5] तुह नाह, चीतु[6] तुहालउ चक्कवइ ।
लहु लकह लेवाह, मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥
(सिद्धराजादिप्रबन्ध पृ० ५८)
(देखो–पु० प्र० स०, पृ० १३४)

इति स्तूयमाने, द्वितीयेन चारणेनोक्तम्—
धाई धोअइ[7] पाय, जेसल जलनिहि तोहिला ।
तइ[8] जीता सवि राय, एकु विभिषणु मिल्हि म हु ॥
(देखो–पु० प्र० स०, पृ० १३४)
(सि० प्र०, पृ० ५८)

---

[1]जईय ।
[2]वाहिआ (कुग च० प्र०, पृ० १८)
[3]कठ (कु०प्र०, पृ० १८)
[4]सुणीइ [5]नरनाह [6]चित्तु [7]धोया [8]पइं सइया ।

साइन्न नही स राणा न कु साईइ ।
सउ पगारिहि प्राण कि न वदमानरि होमीइ ॥
राणा सव्वे वाणियां, जेसनु वड्डउ सेठि ।
काहू वणिजडु माण्डीयउ, अम्मीणा गढहेठि ? ॥

(सोरठ वा०, पृ० ३५-३४)

तइ गरुया गिरिनार, काहू मणि मत्सर धरिउ ।
मारीता षगार, एकू सिहरु न ढालियउ ॥
वलि गरुया गिरिनार, वीहू बोलाविउ तूपउ ।
लहिसि न बीजो वार, एहा सज्जण भारगम ॥
अम्हे एतलइ सतोषु, जउ[1] प्रभु पाए पेलिया ।
न कु राणिमु न कु रोसु, वे सगारइ सिउगिया ॥
मन तबोलुय मागि, ऊखि म ऊराडइ मुहिहि ।
देउलवाडउ सांगि, खगारिहि सउ त गियउ ॥
जेसल मोडि म बाह, वलिवलि विरए भावियइ ।
नइ जिम नवा प्रवाह नवघण विणु आवइ नही ॥
वाढी[2] तउ वढवाण, वीसारता न वीसरइ ।
सूना[3] समा पराण, भोगावह तइ भोगव्या ॥ (सिद्ध० प्र० पृ० ६५)
आपणपइ प्रभु होईयइ, कइ प्रभु कीजइ हत्थि ।
काजु करेवा माणसह, त्रीजउ मागु न अत्थि ॥ कुमारपालादिप्रबंध, पृ० ८१
सोहगिउ सहिकच्छुयउ, जुत्तउ ताणु करेइ ।
पुट्ठिहि पच्छइ तरुणीयणु, जसु गुणगहणु करेइ ॥ कु०, पृ० ८६

एकेन चारणेन प्रभुसमागतेन—

लच्छि वाणिमुहकाणि, सा पइ भागी मुह मरउ ।
हेमसूरि अत्थाणि, जे ईसर ते पंडिया ॥ (कुमारपालादिप्रबंध, पृ० ९२)

अवसरे प्रविश्य द्वितीयश्चारणः—

हेम तुहाला कर मरउ, जिह अच्चब्भुयरिद्धि ।
जे चपह हिट्ठा मुहा, तीह ऊपहरी सिद्धि ॥ (पृ० ९२)

(पु० प्र० स०, पृ० १२६)

---

[1]ज पहुपाय पेलीया ।
इक राणिम अनरोसु, वेउ खगारिइ सउ गया ।
[2]वढी ।
[3]सोनल केरा प्राण, भोगावहिसिउ भोगव्या ।

(सोनलवाक्य, पृ० ३४-३५)

इक्कह फुल्लह माटि, सामीउ देयइ सिद्धिसुहु ।
तिरिणसउ केहो साटि, कटरे भोलिम जिणवरह ॥ कु०, पृ० ६३
महिवीढह सचराचरह, जिरिण सिरि दिन्हा पाय ।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होइ तु होउ चिराय ॥ कु०, प्र० ६७

पुरातन प्रबन्धसग्रह

एअति घोडा एअ बल, एअति निसिआ खग्ग ।
इत्थ मुणीस जाणीअइ, जो नवि वालइ वग्ग ॥
घडु घोडइ सिरु धरणि अलि, अतावलि मिर्ढेहि ।
महु कतह रिणसामीयह, दिन्न तिहु खधेहि ॥
(प्रस्ताविक–टिप्पनी सूचित परिशिष्ट सग्रह)

च्यारि पाय विचि दुडुगुसु दुडुगुसु,
जाइ जाइ पुणु रुडुघुसु रुडुघुसु ।
आगलि पाछलि पुछु हलावइ,
अधारउ किरि मूला चावइ ॥ (विक्रमार्कप्रबधा , पृ० १०)

गय गय रहे गय तुरय गय, गय पाइक्क अनुभिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मन्तणउ, महँता रुद्दा इच्च ॥
मुज भणइ मिणालवइ कसा काइ चुयति ।
लड्ढु उ साउ पयोहरइ बधण भणीअ रअति ॥
इच्छउ इअरमणारहाण, मणवछिआण सपत्ती ।
न पहुप्पइ बधणदोरिआ वि दिव्व पराहुत्त ॥
मुज भणइ मिणालवइ गउ जु वण मन भूरि ।
जइ सक्कर सयखड किअ, तोइ स मिट्ठी चूरि ॥
झोली तुट्टवि किं न मूउ, न हूउ छारह पुज ।
घरि घरि भिक्ख भमाडीइ, जिम मकड तिम मुज ॥
वेसा छडि वडाइ ती, जे दासिहिं रच्चति ।
ते नर मुज नरिंद जिम, परिभव घणा सहति ॥ (मुजराजप्रबध पृ० १४)
मा गोलिणि मन गव्व करि, पिखिवपडुरुअाइ ।
पचइ सइ बिहुत्तरा, मुजहगय गयाइ ॥ पृ० १४
अद्धा अद्धा नयणला, जइ मु मुज न लित ।
सत्तइ सायर सधर धर, महि सिधलु भजत ॥ मुज० पृ० १५
तिक्खा तुरिय न माणिआ, मडसिरि खग्ग न भग्गु ।
एह जम्म नग्गह गयउ, गोरी कठि न लग्गु ॥

(कुलचन्द्रप्रबन्ध , पृ० १८)

नव जल भरिआ मग्गडा, सजल घडुक्कइ मेहु ।
इम्र बारि जइ आविसिइ, नउ जाणीसिइ नेहु ॥ कु०, पृ० १६

अत्थि कहंत विपि न दीसइ [नत्थि], वह्उ त सुहगुरु दसइ ।
जो जाएइ सो वहइ न कीमइ, अज्जाण तु वियारइ ईमइ ॥

(भोजदेवप्रबन्धा, पृ० २२)

तुह मूडिए घणेहिं, धार न लीजइ वर्णउत्त !
जिम जे हेडे (?) अरुंवेहि, जोइ न जेसल आवतउ ॥—(धाराध्वसप्रबध, पृ० २३)

वभ भट्ट नव बुद्ध भगव अट्ठारस जित्तय,
सइव सोल दह भट्ट सत्त गघव्व विजित्तय ।
जित्त दिगम्बर सत्त च्यारि खत्तिय दुय जोइय
इकु धीवर इकु भिल्लु भूमिपाडिओ इकु भोईओ ।
ता कुमुदचदि इय जित्त सवि अणहिल्लपुरि जओ आइयओ ।
वडगच्छतिलइ पहुदेवसूरि कुमुदह मदु उत्तारियओ ॥

उपदेशशप्तति—(देवाचार्यप्रबन्धः, पृ० २७)

च्यारि जोड नीसाण, इय हिंसइ पच पच्यासी,
इग्यारह सइ सुहड, सीस सइ बुन्नि च्छिन्नासी ।
बलदह सइं चिआरि, कम्मयर पचछहुत्तर,
अत्थ लक्ख पणवीस, दम हुइ लक्ख बहुत्तर ।
ता चमर छत्त तुट्टर बिरुद, सुखासण वाहण लियओ ।
वडगच्छतिलइ पहुदेवसूरि, नगगओ वलि मग्गओ कियओ ॥

उपदेशशप्तति—(देवाचार्यप्रबन्ध, पृ० ३०)

मइ नाईउ सिद्धेश, तउ चडियओ उज्जिल सिहरि ।
जीता च्यारइ देस, अलीउ जोअइ कर्णउत्र ॥

(सं० सज्जनकारितरैवत तीर्थोद्धारप्रबन्धः, पृ० ३४)

खडहडीया खंगार, धणीविहूणा धूलहर ।
गया करावणहार, जाइसिइ········· ॥
पइ गरुआ गिरनार, काहउ मनि मत्सर धरिउ ।
मारिता खगार, एकु सिहर न ढालिउ ॥
वीजलिआ बीजी वार, सोरठ म आवे प्राहुणउ ।
अम्मीणउ भडार, लाईं तइ लूसी लीउ ॥
मन तबोल म मागि, कपि म ऊघाडइ मुहिहिं ।
देउल वाडइ सागि, तउ खगारि सउ गयउ ॥
जेसल मोडि म बाह, वलि वलि वरूए भाविअइ ।
नदी जिम नवा प्रवाह, नवपण धिणु आवइ नही ॥

पा हुउ करिसि गमार, प्रणहिनवा उइ रूपडइ ।
सिहर तणां गिरनार, सूतां ही सालइ हीग्रइ ।।

यलि गरूग्रा गिरनार, दीहू नीझरणे झरइ ।
बापुडली गुजरात, पाणीहइ पहुरउ पडइ ।।

राणा सव्वे वाणिया, जेसल वड्डउ सेठि ।
काहउ वणिजडु मांडीउ, अम्मीणा गढ हेठि ।।

गया ति गमह तीरि, हंस जिती बइसता ।
अहीणइ ढढारि, बगला बइसेवउ करइ ।।

अम्ह एतलइ मतोस, ज पहूपाय पेलीग्रा ।
इक राणिम मनरोसु, बेउ लगारिइ सउ गया ।।

वढी तउ वढवाण, वीसारता न वीसरइ ।
सोनल केरा प्राण, भोगावहिसिउ भोगव्या ।।

(सोनलवाक्य', पृ० ३४-३५)

एहे टीलालेहि, धार न लीजइ करणउग्र ।
जम जेहे प्रउचेहि, जोइइ जेसलु आवतउ ।

(सिद्धराज सम्बन्धिवृत्तम् , पृ० ३५)

अव [ड] हुतु वाणीउ, मल्लिकार्जुन हूत राउ ।
पाडो माथउ वाढीउ, उग्रडिहिं देविगु पाउ ।। (राणक अवड प्रबन्ध पृ० ३६)

द्वारभट्टेनोक्तम्—

"कीडी रक्ख करतु, चडिउ रणि मइगल मारइ० ।।"

(द्वात्रिंशद्विहारप्रतिष्ठाप्रबन्ध , पृ० ४६)

चारणोक्तम्—

"कुयरउ कुमर विहार० ।।" (द्वा०, पृ० ४७)
घ्याल.दोस.न.वइजला..न.फि.सासतड.मेत..
ज मुणिवर सताविया, तह कम्मह फलु एहु ।। (अजयपालप्रबन्ध, पृ० ४८)

चारणेनोक्त मन्त्रिण प्रति—

[दूसा] .जप्र (?) वीर, जउ ग्राव्या दल बाधराइ ।
मोटी हूती हीर, देसह बासेवा तणी ।।

चारणेन—

जिम केतू हरि ग्राजु, तिम जइ लकाहूत दुसाजुन ।
नाऊ बूडत राजु, राणाहो (व) रावण तणउ ।।

अो[1] आगिलउ जु होइ, सो जसवीर न जाणीउ ।
ए बूझइ सहु कोइ एकावन बूमहो नही ॥
सुन्दरसरि अनुराह, (दंति) जनु पीधउ वयणेहिं ।
उदयनरिंदिहिं कड्डिउ, तह नारीनयणहिं ॥

(मन्त्रि यशोवीरप्रबन्ध, पृ० ५०)

चारणेनोक्तम्—

मही मुरखी रइ करउ, छुट्टउ मलह गाह ।
विमलडि सइ कड्डियउ, नट्ठउ थानीनाह ॥

(विमलवसहीप्रबन्ध पृ० ५२)

नयणिहिं रोसु निवारि, वयणिहिं वरिसइ अमिय रस ।
तलि दोरउ सचारि, करि कांई जन वीसरइ ॥

(वस्तुपाल तेजपालप्रबंध पृ० ५६)

चारणेनोक्तम्—

भाऊ भरहिं थाइ, सेत्तुजि सर न कारावित ।
जाणिउ ईणइ ठाइ आगइ अणु पमडी किउ ॥ व०ते०, पृ ६३)

चारणोक्ति —

जीतउ छहि जणहिं, साभलि समहरि वाजीइ ।
त्रिहु भुजि वीरतणेहिं, चिहु पगि ऊपरवट तणा ॥

(वस्तु०तज०प्रबध, पृ० ६६)

चदवलिद्दिका द्वारभट्टो नप प्राह—

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइ कइवासह मुक्कओ,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खतरि चुक्कउ ।
बीअं करि सधीउ भमइ सूमसरनदण ।
एहु सु गहि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइ भरिण ।
फुड छडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुनह,
न जाणउ चदवलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह ॥
अगहु म गहि दाहिमओ रिपुरायखयकरु,
कूडु मत्र मम ठवओ एहु ज बूय मिलि जगरु ।
सह नामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउ बुज्झइ,
जपइ चदवलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।

---

[1]आ आगिलउ जु होइ, पइ जसवीर न सिक्खियउ ।
महि मडलि सहु कोइ, बावन्नइ बूझइ बहू ॥ पृ० ५१

पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि ।
कइ वास विग्रास विसट्ठविणु मच्छिरबंधिवद्धयो मरिसि ॥

(पृथ्वीराजप्रबंध, पृ० ८६)

चन्दबलिद्दभट्टेन श्रीजैनचन्द्र प्रत्युक्तम्—

त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाखरीग्रइ जसु हय,
चऊदसइ मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
वीस लक्ख पायक्क सफर फरिक्क धणुध्दर,
ल्हूसडु ग्ररु वलुयान सख कु जाणइ ताह पर।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहिविनडिग्रो हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि घरि गयउं॥

(जयचंदप्रबंध पृ० ८८)

जइतचंदु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ
धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भगाणग्रो।
सेसु मणिहिं सकियउ मुक्कु हयखरि सिरि खंडिग्रो,
तुट्टग्रो सो हर धवलु धूलि जसु चिय तणि मंडिग्रो।
उच्छलीउ रेणु जसगि गय सुकवि ब (ज) ल्हु सच्चउ चवइ,
वग्ग इंदु बिंदु भुयजु ग्रलि सहसनयण किण परि मिलइ॥ (पृ० ८८-८९)

.. डूगर बालणि वलिणि वलि, कित्तीसु ग्रब्भड भज।
ग्रस्तागमणु न जाणिउ, तुह पनरह मुह पच॥

(वज्रस्वामिकारित शत्रुञ्जयोध्दारप्रबंध, पृ० ९६)

जा जा पडइ ग्रवत्थडी० ॥

(G) सग्रहगता ग्रवशिष्टा प्रबन्धा, पृष्ठ ११३

जईय रावणु जाइयउ, दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियंभी चिंतवइ, कवणु पियावउ खीरु॥

(प्रबन्धचिन्तामणि गुम्फित कतिपय प्रबन्ध लक्षण, पृ० ११८)

माणसणा(डा) दस दस दसा, सुणीइ लो ग्रपसिध्द।
मह कतह इक्क ज दसा ग्रवर ति चोरिहिं लिध्द॥ पृ० १२१

चारण—

लच्छि वाणि मुहकाणि ए, पइ भागी मुह मरउ।
हेमसूरि ग्रत्थाणि, जे ईसर ते पडिग्रा॥ पृ० १२५

हेम तुहाला कर मरु, जिह ग्रच्चब्भुग्ररिध्दि।
जे चपह हिठा मुहा, तीह उपहरी सिध्दि॥ पृ० १२६

गय गय रह गय तुरय ग्य, पायकडाति भिच्च।
सग्गट्ठिउ करि मतणु, महता रुद्दाइच्च॥ पृ० १२८ टि०

पभणइ मुंजु मुणालवइ जुव्वणु गियउ म झूरि।
जइ सक्कर सयखंड थिय, तोइ स मीठी चूरि ॥ पृ० १२६

सउ चित्तह [सट्ठी] मणह, बत्तीसडी हियाह।
अम्हे ते नर ढाढसी, जे वीसस्या थीआह ॥
भोली तूटी किं न मूयउ, किं न हूउ छारह पुंजु।
हीडइ दोरी दोरीयउ, जिम मक्कडु तिम मुंजु ॥
भोली मूंधि म गव्वु करि, पिक्खिवि पडुरुयाइं।
चउदसइ छहुत्तरह मुंजह गयह गयाइं ॥ पृ० १२६

को जाणइ नरनाह, चित्तु तुहालउ चक्कवइ।
लहु लंकह लेवाह, मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥
धाई धोया पाय, जेसल ! जलनिहि ताहिला।
पइ लइया सविराय, इक्कु विभिषणु मिल्हि मुद्ध ॥ पृ० १३४

प्रबन्ध-कोश

उवयारह उवयारडउ, सव्वु लोउ करेइ।
अवगुणि कियइ जु गुणु करइ, विरलउ जणणी जणेइ ॥
(श्री जीवदेवसूरिप्रबन्ध', पृ० ८)

नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारह गमणु निवारियइ।
थोवाथोव दाइयइ, सग्गि टुकुटुकु जाइयइ ॥
गुलसिउ चावइ तिलतिलादली, वेडिइ वजावइ वासली।
पहिरणि ओढणि हुइ कांवली, इण परि ग्वालइ पूजइ रुली ॥
कालउ कबलु अनुनी चाटु, छासिहि खालडु भरिउ नि पाटु।
अइवडु पडियउ नीलइ झाडि, अवर किसर गह सिग निलाडि ॥
(वृध्दवादि-सिध्दसेनयो प्रबन्ध, पृ० १६)

अणफुल्लिय फुल्ल म तोडहि, मा रोवा मोडहि।
मणकुसुमेहि अच्चि निरजणु, हिडहि कांइ वणेण वणु ॥
(वृध्द० सिद्ध० प्र० पृ० १८)

हस जिहि गय तिहि गया, महिमडणा हवति।
छेहु ताह सरोवरह, ज हसे मुच्चंति ॥
(बप्पभट्टिसूरिप्रबध, पृ० ३०)

छाया कारणि सिरि धरिय, पच्चवि भूमि पडति।
पत्ताह इहु पत्तत्तणउ, तरुअर काइ करति ॥ पृ० ३१

तत्ती सीयली मेलावा केहा, धण उत्तावली पिउ मदसणेहा।
विरहि माणुसु जो मरइ, तसु कवणु निहोरा,

कण्णि पवित्तडी जणु आणइ दोरा ॥ पृ० ३३

जं दिट्ठी करुणातरंगियपुडा एयस्स सोमं मुहं,
अयारो पसमायरो, परियरो सतो पसन्ना तणू।
तं मन्ने जरजम्ममच्चुहरणो, देवाहिदेवो जिणो,
देवाणं अवराण दीसइ जओ, नेयं सरूवं जए ॥ पृ० ४०

दोवि गिहत्था घडहड वच्चइ, को विर कस्स वि पत्त भणिज्जइ।
सारभो सारभ पुज्जइ, कद्दमु कद्दमेण विमु मुज्झइ ॥ पृ० ४०

गाहसंजुत्तइ हलु वहइ, दैवह तणइ कपालि।
खूटा विणु खीलइ नही, खेडि म खूटा टालि ॥

चारण—

कुमारपाल ! मन चिंत करि, चिंतिइ किंपि न होइ।
जिणि तुहु रज्ज समप्पिउ, चिंत करेसइ सोइ ॥

(हेमसूरिप्रबन्ध पृ० ५१)

कुमारपाल रणहट्टि, वलिउ कु करिसइ वदहरणु।
इक्कह पल्लीमट्टि, वीसलक्खउ झगडउ कियउ ॥ पृ० ५२

ते मुग्गडा हराविया, जे परिविट्ठा ताह।
अवरुप्परजोयत यह, सामिउ गंजिउ जाह ॥
जइ उट्ठ भइ तो कुहइ, अह डज्झइ तउ छारु।
एयह दट्ठ कलेवरह, जं वाहियइ तं सारु ॥
सा सुक्कतइ जगु मरइ, ते बोरडी म सुक्क।
इक्कु मरतइ सु मरइ वरिसउ मरउ म इक्क ॥

(रत्नश्रावकप्रबन्ध, पृ० ६!

चारण —

जीतउ छहि उणहिं, साभनी समहरि वाजियइ।
बिहु भुजि वीरतणेहि चिहु पगि ऊपरवटतणै ॥

(वस्तुपालप्रबन्ध, पृ० १०४

वरि विक्रराजहिं जणु पियइ, घुट्टुगघुट्टु चुलुएहिं।
सायरि अत्थि बहुत्तु जलु, छि खारा किं तेण ॥

(व०, पृ० १११)

सोमतिलक सूरिकृत कुमारपाल प्रतिबोध

वाजु करेवा माणसह, बीजु मागु न अत्थि।
कइ आपणि पणु थाईह, कइ पहु काजइ हत्थि ॥ पृ० १८

इक्कह फुल्लह माटि, दे[1] इ जु नर सुर सिव सुह[2]।
तिणिम्ह[3] केहो साटो[4], कटरे भोलिम जिणवरह[5] ॥ पृ० २४

समयज्ञस्तदोवाच चारणवाग्मयचातुरः, पृ० १०७

मागधोऽभणत्—

एह न होइ घर धार सार परमार नरिन्दह।
एह न होइ उज्जेणि जु पइ भजीय बल चंडह।
मडव गढ़ नहु एह जु पइं प्रसिवर घंधोलीय।
उच्चयाण नहु एउ जु पइ निय भुयबलि तोलीय।
नागपुरह एहु चालुक्कवइ जइ वेढिउ दहदिहि घणुं।
ता नमइ न कुमर मंडलीय चालुक्कह भमुहह तणु ॥ पृ० २९

चारण—

पुट्ठा उट्ठिहि फेरू फिर तु दिणयर देउ जिम।
जय कचणगिरि मेरु कुमरह कुमरप्पाल तिम ॥ पृ० २९

जइ जिप्पइ ता मडलीय, जिणहि त गुज्जर राउ।
तुह कुमर यह कुमरप्पालु, दुन्निवि होहु किमाउ ॥ पृ० २९

चारण—

गया जि साजण साथि, करि पइठा वइरी तणइ।
कुमरपालति हाथि अवस ति अवसरि बाहडिइं ॥ पृ० २९

चारण—

गड फुट्टू वेयण गई, विग्गहि लया गइंद।
मत्तउ चालू चक्कवइ, निरभर आवइ निंद ॥ पृ० ३०
वलीउ भूयवइ ज करइ, त सहु करणह जुत्तु।
माडवि जग सरिस्यू वयरा काइ सूइ निच्चत ॥ पृ० ३०

पुरातन पद्य-प्रबन्ध

वसीलपरणे—

एक्कह पाली माटि, वीसलस्यउ मूगडउ कियउ।
कुमरपालरय हटि, बीजी वार कु वहुरिस्यइ ॥ प० ८

---

[1]देसइ [2]सुएह [3]एही करइ [4]जु [5]जिनवर तणी।

पुरातनाचार्य० प्रबन्धे

सउ चित्तह सट्ठी मणह, पचासडी होयाइ ।
अम्मी ते नर ढ्ढुसी, जे पत्तिजइ ताइ ॥ प० ४६

पाहिल्यी सवि वक्डी, किमुपत्तिज्जि तास ।
नीयसिरि घडउ वडादि करि, पकइ दिइ जे पास ॥

रामचद्र चारण—

काहू मति विभतडी, अजीय मणिप्रडा गुणेंह ।
अखय निरजण परम पथा, अजय जय न ल्हेह ॥ प० ८३

हेमसूरि मू करि किसिउ, हरइ काइ रडइ ।
जिणि वारणि हु घा लिपउ, सव्वह वजण छेहि ॥ प० ६०

अम्हे थोडा रिपु घणा, इम कायर चितति ।
मुद्ध निहालउ गयणयलु, के उज्जोउ करति ॥ पृ० ६६

साहस जुत्तउ हल वहइ, दइवह तइण कमालि ।
खडिम खूटा टालि, खूटा विण खीजइ नही ॥ प० ६६

चारण—

कुमरउ! कुमर विहार, एता काइ कराबीया ।
ताह कु करिसइ सार, सीप न आवइ सय धणी ॥ पृ० ११०

उपदेशतरगिणी

चारणोक्त—

समय —जगडूशाह वीसलदे । तत्र चारणोक्ति —
वीसलदे विरुउ करइ जगडू कहावइ जी ।
तु परीसइ फालिसिउ एउ परीसइ घी ॥ ११६ ॥ पृ० ४२

समय—खगार राजा जूनेगढ का, डूमण चारण —
जीव वधन्तां नरय गइ, अवधन्ता गइ सग्गि ।
हु जाणु दुइ वट्टडी, जिणि भावै तिणि लग्गि ॥ १४२ ॥ पृ० ४८

सिध्दराजे चारणोनोक्तम्—

को जाणइ को नाह चिन्तु तुहारउ चक्कवइ ।
लहु लक्ह लेवाह मग्ग निहालइ करणउत्त ॥ १६५ ॥ पृ० ५३
धाइ धोया पाय जयसिंह जलनिहि ताह ।

रातइ गहिआ सविराय इक्क विभीषण मिल्हिमइ ॥ १६६

सो जयउ कुडगंधो तिहुअणमज्झमि जेसलनरिन्दो ।
छित्तूण रायवंसे इक्क छत्त कयं जेण ॥ १६७

एकदा समाया सिध्दराजेन स्वमूंछाया करगृहीतायां ।

आमकविः प्राह—

डरिगइन्द डगमगिय चंद करमिलिय दिवायर,
डुल्लिय महि हल्लियइ मेरु जलभपिअ सायर ।
सुहडकोडि थरहरिय क्रूरकूरम कडविकअ,
अनलविनल घसमासिअ पुहवि सहु प्रलय पलट्टिय ।
गज्जति गयण कवि आम भणि सुरमणि फणमणि इक्क हूअ,
मागहि हिमगहि ममगहि मगहि मुच मुछ जयसिंह तुह ॥ २०२

वरसइ चऊद चुआल थम्मसइं मतर निरतर,
सय पुत्तलीय अढार जडीमणि माणिक रयंवर ।
तीस सहस घनदण्ड कलस दस सहस्स सुवन्नय,
छप्पन्न कोडि गय तुरिय लग्ग तिणि रुद्द महालय ।
कविगद्द सद्द इम उचरइ सुरनर रोमञ्चिय सवइ,
सुपसिद्धिखित्ति जयसिंह किति टगमग चाहइ चक्कवइ ॥ २०३

आमभट्ट—

रे रक्खइ लहु जीव वडविरणि मयगल मारइ,
न पीइ अणगल नीर हेलिरायह सहारइ ।
अवरन वधइ कोइ सधर रयणायर बधइ,
परनारी परिहरइ लच्छि पररायह रूधइ ।
ए कुमरपाल ! कोपि चडिउ फोडइ सत्त कडाहि जिम,
जे जिणधम्म न मन्निसिइ तीहवी चाडिसु तेम तिम ॥ २०४

कुमारपाले चारणोक्ति—

कुमारपाल ! मत चित्त करि, चिंतिउ किंपि न होइ ।
जिणि तुझ राज समप्पिउ, चिन्त करेसि सोइ ॥ २०५

इक्क कन मरि जाइ नारि चुनकइ आभरणह,
घटजुमत अपहारि नारि बोली नीझरणह ।
पयडिय विहवा सद्द सयल मगल टालिज्जइ,
मानभग तस होइ देह दुव्वयणे डज्झइ ।
एतला दड इणसिरि पडइ मनइ धन जाइ नरिंद घरि ।
कुमर नरिंदरवन्तो अह लच्छी मुक्किय पसाउ करि ॥ २१६

चन्दि दीवउ धरणि पत्लर तृण पूनव सथरइ ईंट खडउ सीस दीज्जइ ।
मह्घरि प्रिय न पाहुणउ सज्जण न वारि बाइट्ठ ।
तुज्झ पसाइ रडपण एह अवत्था दिट्ठ ॥ २२०

नागिल चारणोपित—

हेम तुहारा करमरु जाह् अनती ऋध्दि ।
ए चाप्या नीचामुहा ताह् ऊपहरि सिद्धि ॥ २२१

हट्टोपविष्ट चारणेनोक्तम्—

भल्लउ पारिसनाथ जइ एहवउ जाइसि ।
सहसिइ सेवडसाथ कुमरनरिंदह् वाहिरउ ॥ २२२

उदयसिंह (सोणगिरि के लाखणसिंह पुत्र) चारणेन वर्णित—

सु दर सर असुराह दलि जल पीधउ वयणेहि ।
उदयनरिंदहि कड्ढीउ तीह् नारीनयणेहि ॥ २२६

मन्त्री विमलदडनायक (स० १०८८) चारणवचनम्—

मडी मुरकी रइ करइ मिल्हीअ मसग्गाह ।
विमलहि खडउ कडढीउ नट्ठउ वालीनाह ॥ २३०

वस्तुपाल, समय—अनुपमसर के मरितमहोत्सव पर
चारणेनोक्तम्—

भाऊ भरहिं काइ सेत्तुजि सरन कराविउ ।
जाणू हु इणइ ठामि आगइ अणुपमडी कीउ ॥ २५४

सामान्या

पत्त पक्खिह कि करह दिज्जइ मग्गंताइ ।
नि वरिसन्तो अम्बुहर जोइ समविसमाइ ॥ ४१

उत्तर–वरिसउ वरिसउ अम्बुहर वरसीडा फल जोइ ।
धतूरइ विस इक्खुरस एवड अ तर होइ ॥ ४२

भावण भावइ हरिणलो नयणे नीर झरन्त ।
मुग्गि वहरावत करि करी जइ हु माणस हुत ॥ ६४

वालउ वाकउ मुह फर विरत्तउ हूउ हयास ।
निग्गि दीधइ हुइ कवण गुण ज फल देइ पलास ॥ ८६

जीव दया गुणवेलडी रोपी रिसहजिणन्द ।
श्रावक्कुलमडप चढी सीची कुमरनरिंद ॥ १०७

नउररयालो मणिघडा ते अगीला च्यारि ।
दान साल जगडूतणी दीसइ पुहवि मझारि ॥ ११८

कलिहिंगोर जि बीणती अज्ज न जाणइ खजख ।
पुणरवि अडविहिं करी सुघर न सहु एह अणवख ॥ १३७

भोजराज गलि कठलउ कहि विसिउ पडिहाइ ।
उरि लच्छी मुहि मरसई सीमविहू विभराइ ॥ १६१

कुमाकण्टइ मत्थरउ उरि जनोई गलि हत्थ ।
तइ रुट्ठइ धारह धणी वयरी एह अवत्थ ॥ १६२

पढन गुनन कवि चातुरी है सब बात सहल्ल ।
मदन दहन मनवसिकरन गगन चलन मुसकिल्ल ॥ १९

महिला कूडचरित्त बभ पुण पारन जाणइ ।
दिनि डरपइ दोरडडू रयणि विसहरफण मोडइ ॥

उदरि दिट्ठइ उब्दसइ कानि घरि बाघ जिरालइ ।
उवरि चढति ढलि पडइ चढि डुगरिग्र गिम्रालइ ॥

सात समुद्र लीला तरइ सुवकीनइ बुडुवि मरइ ।
राम कवीसर इम कहइ स्त्रीचौरास मति को करइ ॥ २१

भोली तुट्टवि किं न मुउ किं न हुवइ छारह पुज ।
घरि घरि भिक्ख मगाविइ जिम मकडइ तिम मुज ॥ २३

धनवन्ती मत गव्व करि पिक्खवि पण्डहुश्राइ ।
चऊदहसय उहुत्तरा मुज गइन्द गयाइ ॥ २२

प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य साहित्य

श्री सीताराम लाळस

विद्वानों ने प्राचीन एवम् आधुनिक भाषाओं के अध्ययन मे राजस्थानी को भी पर्याप्त महत्व दिया है, किन्तु उनका यह आधार राजस्थानी की काव्यगत विशेषताओं तक ही सीमित रहा। गद्य की दृष्टि से भी राजस्थानी एक समृद्ध भाषा है; इस तथ्य की ओर सम्भवतया उनका ध्यान ही नही गया। राजस्थान के विद्वानों ने भी इसे प्रकाश मे लाने का कोई विशेष प्रयास नही किया। यहां के अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने भी सम्भवतः भाषायी एकता को पुष्ट करने की दृष्टि से अथवा किन्ही अन्य कारणों से प्रायः हिन्दी भाषा मे ही गद्य निर्माण किया है। इसका परिणाम राजस्थानी के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुआ है। तत्कालीन राजभाषा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में राजस्थानी को स्वतन्त्र प्रांतीय भाषा के रूप में स्वीकार नही किया, यद्यपि इस प्रतिवेदन के पहले बड़े-बड़े भाषाविद् राजस्थानी को एक स्वतंत्र भाषा के रूप मे स्वीकार कर चुके हैं।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' मे राजस्थानी को एक पृथक साहित्यिक भाषा के रूप मे स्वीकार किया है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1] तथा डॉ० एल. पी. तैस्सितोरी ने भी इसे केवल बोलियों का समूह न मान कर हिन्दी से स्वतन्त्र एव भारतीय आर्य-भाषाओ के परिवार की एक समृद्ध भाषा माना है

---

[1] 'वस्तुतः भाषा-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो राजस्थानी, कोसली या अवधी, भोजपुरी या मैथिली आदि बोलियां नहीं, भाषायें ही हैं।'—राज भाषा आयोग का प्रतिवेदन, पृ० २३८।

हमारा उद्देश्य इस विवाद मे पडने का नही है। तथापि यह निस्सदेह सत्य है कि राजस्थानी मे विपुल काव्य-निधि के अतिरिक्त गद्य साहित्य की परम्परा भी बहुत प्राचीन एवम् समृद्ध रही है।

इसके समुचित प्रकाशन एवम् अध्ययन के अभाव मे ही प्राय लोगो की इस प्रकार की धारणा-सी बन गई है कि राजस्थानी मे गद्य साहित्य नगण्य अथवा गौण है। आधुनिक युग मे राजस्थानी गद्य की स्थिति बडी चिंतनीय रही है, इसे राजस्थानी साहित्य की सेवा करने वाले लेखको ने भी अनुभव किया है। यद्यपि इस स्थिति मे अब बहुत अन्तर आ चुका है, कई व्याकरण प्रकाशित हो चुके हैं, कोश का निर्माण भी हो चुका है, राजस्थान निवासी अपनी भाषा की रक्षा के प्रति अधिक जागरूक हैं, राजस्थानी की सूक्ष्म बारीकियो का अनुसधान किया जा रहा है, एवम् उस पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए जा रहे हैं, और आधुनिक लेखक भी इसी भाषा मे कहानी, उपन्यास आदि लिख रहे हैं।

जो लोग राजस्थानी के सम्बन्ध मे यह भ्रामक धारणा रखते हैं कि राजस्थानी का अर्थ विभिन्न बोलियो का समूह मात्र है तथा उसमे गद्य का एक-स्तरीय रूप नही है, उनकी यह धारणा प्राचीन राजस्थानी गद्य (ख्यात, वातें) का अध्ययन करने पर अवश्य मिट जानी चाहिये। मुहणोत नैणसी जालोर का निवासी था, कविराजा बाकीदास जोधपुर के रहने वाले थे, दयाळदास ने अपनी ख्यात बीकानेर मे बैठ कर लिखी थी और कविराजा सूर्यमल बून्दी के निवासी थे। किन्तु इनके लिखे गद्य मे विशेष अन्तर नही है। राजस्थानी भाषा की एकरूपता का इससे बढ कर अन्य कौनसा प्रमाण हो सकता है।

आज के साहित्य मे गद्य की प्रधानता है, किन्तु प्राचीन साहित्य मे गद्य का ऐसा प्रचलन नही था। राजस्थानी मे गद्य का प्राचीन रूप मिलता है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह साहित्य का उतना प्रभावशाली वाहन नही रहा जितना कि पद्य।

राजस्थानी गद्य के विकास पर दृष्टि डालते समय हम विषय-क्रम (यथा—ख्यात, वात आदि) का वर्गानुसार उल्लेख न करके काल-क्रमानुसार ही विकास-क्रम का विवेचन करेंगे।

चौदहवी शताब्दी से राजस्थानी गद्य-रचना की परम्परा स्पष्ट रूप से देखने मे आती है। गद्य लिखने की परम्परा इससे भी प्राचीन अवश्य थी पर उसके

उदाहरण बहुत अल्प मिलते है ।[1] चौदहवी शताब्दी के प्राचीनतम गद्य के दो उदाहरण हमे उपलब्ध हैं । पहला उदाहरण एक गोरखपंथी गद्य ग्रन्थ मे मिलता है । हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकारों ने गोरखपंथी की रचना के रूप मे निम्नलिखित अवतरण उद्धृत किया है—

'श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है । है कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को । जिन्ही के नित्य गायैं तैं सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मै जु हौ गोरिख सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं । हैं कैसे वे मछंदरनाथ । आत्मा ज्योति निस्चल है अन्तःकरन जिनिकौ अरु मूल द्वार तैं छइ चक्र जिनि नीकी तरह जानै । अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायो । सुगंध कौ समुद्र तिनि कौ मेरी दंडवत ।। स्वामी, तुमैं तौ सत्गुरु अम्है तौ सिख सब्द एक पूछिबौ, दया करि कहिबौ, मनि न करिबौ रोस ।'

उपरोक्त अवतरण मे 'पूछिबौ' 'कहिबौ' 'करिबौ' आदि के प्रयोगों के कारण इसके रचयिता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजस्थान का निवासी माना है ।[2] पूर्वी राजस्थान मे आज भी क्रियाओं के अंत मे 'बो' लगाने की प्रथा है। किन्तु इन्ही प्रयोगो को देख कर कुछ बगाली विद्वानों ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बंगाल की भाषा का प्रभाव पडा है । नाथपथी साधक प्रायः देशाटन करते रहते थे । अतः उनकी भाषा पर अनेक स्थानों की भाषाओं

---

[1]शिलालेख, ताम्रपत्र आदि के रूप मे कही-कही प्राचीन राजस्थानी गद्य के नमूने आज भी उपलब्ध होते हैं। यहाँ एक १३वी शताब्दी का शिलालेख प्रस्तुत कर रहे हैं जो बीकानेर के नाथूसर गाव में उपलब्ध हुआ है ।

प्रलेख का मूल पाठ—

पंक्ति-१—समत १२८० वेरसे मती माह सुद्व २ राग—
,, २—ड कुसलो गारधनत काम यायो छं गा घनैस—
,, ३—सर माह. रगड़ कुसलो रणधीर त झुकार.
,, ४—हवा छै पाता अरपीयो रै वैरे महे कम या—
,, ५—या भटी कस(ल) संघ मलराज तरै म
,, ६—ह इऊ ।। काम यया छ ।

—'वरदा' पृष्ठ ३, वर्ष-४, अंक ३

[2]हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

का प्रभाव पड़ना सम्भव है। अधिकतर विद्वानों ने उपरोक्त अवतरण को व्रज-भाषा का नमूना माना है। वास्तव में यह व्रजभाषा का ही उदाहरण है। प्राचीन राजस्थानी में वाक्यों का सगठन इस ढग का नहीं मिलता।

चौदहवीं शताब्दी का एक और गद्य का उदाहरण श्री मोतीलाल मेनारिया ने प्राचीन राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में अपनी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य, नामक पुस्तक में उद्धृत किया है—

'ज्ञानाचारि पुस्तक पुस्तिका सपुट सपुटिका टोपणा कवली उतरी ठवणी पाठा दोरी प्रभृति ज्ञानोपकरण अवज्ञा, अकालि पठन अतिचार विपरीत कथनु उत्सूत्र प्ररूपणु अश्रद्धधान—प्रमुनिकु आलोयहु।'—आराधना' (सवत् १३३०)

उपरोक्त अवतरण भी राजस्थानी भाषा का उदाहरण नहीं माना जा सकता। यह तो परवर्ती प्राकृत एव अपभ्रंश का रूप है, जिस पर सस्कृत का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

श्री सग्रामसिंह द्वारा रचित 'बाल शिक्षा व्याकरण' में भी राजस्थानी गद्य के उदाहरण पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सवत् १३३६ है। यद्यपि यह सस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ है तथापि समझाने के लिए इसमें राजस्थानी गद्य के शब्द-समूह का प्रयोग किया गया है।

पद्य की तरह राजस्थानी गद्य के भी प्रारभिक विकास में जैन विद्वानों का विशेष हाथ रहा है। सवत् १४११ के गद्य का एक उदाहरण एक जैन आचार्य द्वारा लिखा मिलता है। इसे राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

'ग्रामि एक अति दरिद्रता करी दुक्खित डोकरी एक हूती। हसउ इसइ नामि तेहनउ दीकरउ एकु हूतउ। सु आजीविका कारणि ग्राम लोक तणा वाछरू चारतउ। अनेरइ दिनि सध्या समइ उद्यान-वन हूतउ वाछरू ले आव-तउ हूतउ सु सर्पि डसिउ, मूर्च्छा आवी, विहाईजि महाविखवेग सगनु हूतउ हेठउ टलिउ। जिम काष्टु निस्चेष्टु हुयइ तिम थाई मही पीठि पडिउ। किणिहि एकि ग्राम माहि आवी करि डोकरि आगइ, कहिउ—ताहरउ दीकिरउ सरपि डसिउ। बाहिरि अचेतनु थाई पडिउ छइ।'—तरुणप्रभाचार्य[2] (सवत् १४११)

---

[1]प्राचीन गुजराती गद्य-सदर्भ—मुनि जिनविजय, पृष्ठ २१८-२१६

[2]'षडावश्यक बालावबोध'—रचयिता खरतरगच्छाचार्य तरुणप्रभ सूरि, सवत् १४११

पन्द्रहवी शताब्दी मे राजस्थानी गद्य में दो प्रकार की लिपि का प्रयोग होता था। पहले प्रकार मे महाजनी लिखावट होने से मात्राओ आदि का बहुत कम प्रयोग किया जाता था। राव चून्डा के समय का (वि० स० १४७८) एक ताम्रपत्र वडली ग्राम में प्राप्त हुआ है। इसमे तत्कालीन महाजनी लिखावट का प्रयोग किया गया है—

श्री राव चूडाजी रो दत बडली गाव।
प्रोयत सादा नै दीयो सवत् १४ व .
रस आठतरो काती सुद पूनम रै।
दिन वार सूरज पुस्करजी माथै।
पुण्यारथ कीदो महाराज चूडाजी।
दुवो तेवीस हजार वीगा जमीनी।
म समेत ईस्वर प्रीतये
गाव दीधो हिन्दू नै गऊ मुसलमा
सूर माताजी चामुडाजी सूं बेमुख
आल-औलाद भ्रणारी कोई गोतो पोतो।
ईस्वर सू बेमुख प्रोयत साद' नै।[1]

दूसरे प्रकार की लिपि काफी साफ-सुथरी और स्पष्ट होती थी।

शैली की दृष्टि से भी यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगे जाकर गद्य की दो प्रमुख शैलियाँ बन गई थी—जैन शैली तथा चारण शैली। इस समय का एक विशिष्ट ग्रथ 'प्रथ्वीचद चरित' अपर नाम 'वाग्विलास' जैनाचार्य माणक्यसुन्दर सूरि द्वारा रचा हुआ मिलता है। इसका रचनाकाल सवत् १४७८ है। इसमें वर्णन वडा सजीव, कथात्मक एव महत्वपूर्ण है। लोक-भाषा में वर्णनो का ऐसा सुन्दर सदर्भ ग्रथ सम्भवत अन्य नही है। इसमें पृथ्वीचन्द्र के चरित्र की अपेक्षा वाग्विलास रूप-चमत्कारिक वर्णनो की ही प्रधानता के कारण रचयिता ने ही सार्थक नाम 'वाग्विलास' स्वय रखा है। ग्रन्थ प्राय तुकान्त गद्य मे लिखा गया है, जिसे पढते समय काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है। उस समय मे एसे ग्रथ का निर्माण वास्तव में राजस्थानी गद्य साहित्य की समृद्धि का महत्वपूर्ण उदाहरण है। ग्रन्थ की भाषा भी अपेक्षाकृत परिमार्जित एव सुन्दर है। उदाहरण के रूप में एक-दो वर्णन देखिये—

---

[1] मारवाड का इतिहास, प्रथम भाग, लेखक–विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पृष्ठ ६५ स उद्धृत।

मरहट्ठ देस वरणण—

'जिण देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम। भला नगर जिहां न मागीयइ कर। दुरग जिस्या हुई स्वरग। धान्य न निपजइ सामान्य। आगर, सोना, रूपा तणा सागर। जेइ देस माहि नदी वहीइं, लोक सुखइ निरवहइ। इसिउ देस पुण्य तणउ निवेस गरुग्रउ प्रदेस। तिणि देस पइठाणपुर पाटण वरतइ, जिहा अन्याय न वरत्तइ। जीणइ नगरि कउसीसे करी सदाकार पाखलि पोढउ प्राकार, उदार प्रतोली द्वार। पाताल भणी धाई, महाकाय खाइ, समुद्र जेहनु भाई। जे लिइ कैलास परवत सिउवाद, इस्या सरवग्य देव तणा प्रासाद। करइ उल्लास, लक्षेस्वरी कोटिध्वज तणा आवास। आणदइ मन, गरुड राजभवन। उपरि अखण्ड सुवरणमय दण्ड, ध्वजपट लहलहई प्रचण्ड।'

वास्तव में राजस्थानी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का बहुत हाथ रहा है। विकासोन्मुख राजस्थान का प्राचीन रूप हमे उस समय के जैन आचार्यों की भाषा में मिलता है। इस पर विशेष कर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। वाग्विलास के सात-आठ साल बाद ही सवत् १४८५ मे हीरानंद सूरि द्वारा लिखा गया 'वस्तुपाल तेजपाल रास' नामक ग्रन्थ की भाषा से यह स्पष्ट हो जाएगा—

'इसउ एक श्री सत्रुंजय तणउ विचारु महिमा नउ भण्डरु मत्रीस्वर मन माहि जाणी उत्सरग आणी। यात्रा उपरि उद्यम कीधउ, पुण्य प्रसादन नउ मनोरथ सिधउ।'

इस समय की भाषा के 'कीधौ' (कीधउ) 'सिधउ' आदि रूप विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'उ' का प्रयोग प्राय शब्दात मे प्रचुरता के साथ मिलता है।

इस समय में अनेक जैनेतर (चारण शैली) रचनाओ का भी निर्माण हुआ है। सवत् १४८५ में रची गई 'अचळदास खीची री वचनिका' इनमे प्रमुख है। इसके रचना-काल के विषय मे विद्वानो में मतभेद हैं। श्री अगरचद नाहटा एवं श्री मोतीलाल मेनारिया ने इसे पद्रहवी शताब्दी का ग्रथ माना है। श्री मेनारिया ने इसका रचना-काल स्पष्ट रूप से १४८५ ही दिया है।[1] परतु डॉ० रामकुमार

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—प० मोतीलाल मेनारिया, पृ० १००।

वर्मा ने संवत् १६१५ माना है।[1] हमारे दृष्टिकोण से इस ग्रथ की रचना संभवत. पंद्रहवी शताब्दी मे ही हुई है। डॉ० तैस्सितोरी का मत भी इसी का समर्थन करता है।[2] इसका रचयिता शिवदास चारण कवि था। उसने इस ग्रथ में गागरौन के खीची शासक अचळदास की उस वीरता का वर्णन किया है जो उन्होंने माडव के पातिशाह के साथ युद्ध में दिखलाई थी। उस युद्ध में अचळदास वीरगति को प्राप्त हुए। शिवदास ने यह सब आँखो-देखा वर्णन किया है। ग्रथ में पद्य के साथ-साथ वात रूप गद्य भी पाया जाता है। यह गद्य सर्वत्र तुकात नही है। उस काल की रचना का यह अच्छा उदाहरण है।

'तितरइ वात कहता वार लागइ। अस्त्री जन सहस चाळीस कउ सघाट आइ संप्राप्ती हुवइ छइ। वाळी-भोळी अबळा-प्रउढा सोडसन्वारखी-राणी रवताणी वहदा-बहदी हो आपणा देवर जेठ भरतार का सत देखती फिरइ छइ।'

इसके अतिरिक्त इस ग्रथ मे तुकान्त गद्य का भी उदाहरण मिलता है जो काव्य का सा आनन्द देता है—

'पगि पगि पउलि पउलि हस्ती की गज घटा, ती ऊपरि सात-सात सइ घनकधर सावठा। सात-सात ओलि पाइक की वइठी, सात-सात ओलि पाइक की उठी। खेडा उडण मुद फरफरी चुहुच को ठाइ ठाइ ठररी इसी एक त्यापट उडि चत्र दिसी पडी, तिण वाजि तकइ निनादि घर आकास चडहडी। बाप बाप हो! थारा आरंभ पारभ लागि गढ लेयण हार किना। बाप बाप हो! थारा सत तेज अहकार, राइ द्रुग राखणहार।'

संवत् १५१२ में कान्हडदे प्रबध को रचना हुई। इसमें भी पद्य के बीच-बीच मे कही-कही गद्य मिलता है—

'वाघवालिया च्यारि च्यारि विलगा छइ। किरि जाणीइ आकासि तणा गमन करसि। अथवा पाताल तणा पाणी प्रगटावसि। ते घोडा गगोद कि स्नान कराव्या। तेह तणि सिरि श्री कमलि पूजा कोधो। तेह तणि पूठि बावनो चदन

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १७८।

[2] A descriptive Catalogue of Bardic and Historical Mss Pt. J. Bikaner State, Fasc 1., P 401

तणा हाथो दीधा। तेह तणि पूठि पच वर्ण पाखर ढाळी। किसी पखर—रणपखर, जोणपखर, गुडिपखर, लोहपखर, कातलीयालीपखर।'

उस समय की साहित्यिक भाषा एव बोलचाल की अथवा ताम्रपत्रो की भाषा मे पर्याप्त अतर दृष्टिगोचर होता है। सवत् १५१६ मे जोधपुर के महाराजा राव जोधाजी ने श्रीपति के पुत्र रिषभदेव को, जो जाति का सारस्वत ब्राह्मण था और जिसका अनटक ल्होड ओभा था, पुरोहितपन का ताम्रपत्र कर दिया था। उस ताम्रपत्र से उस काल की भाषा पर पर्याप्त प्रकाश पडता है—

'महारावजी श्री जोधाजी वचनायते तथा कनोज सू सेवग लूव रिसी जातऐ सारसुत ओजो ल्होड सेवा लेनें आयो सु राठोड वस रा सेवग ऐ है। ठेट कदीम सू मुलगाया रो सेवगपणो इणा रो है। पहर्गा वस रै माता जी श्री आदपखणीजी चक्रेस्वरीजी पर्छ राव श्री धूहडजी नू वर दीधो नैं नाग रा रूप सू दरसण दीधो तरै नागणेचिया कहाणी सु धूहडजी रो तावापत्र ओभा रिषभदेव श्रीपत रा बेटा कनै थो सु वाचनें मैं ही तावापत्र कर दीधो इण मुजब राठोड वस रो सवगपणे रो लवाजमो जाया परणियो नेग दापो राजलोक रावळे करै सु वरत वडुलियो सरबेत रणा रो नेग है नै राठोड वस गोतमस गोत्र अकरूर साखा री लार इनरा जगा छै। पीरोत सेवड ओजा सेवग लोड मथरेण रुदर देवा। सो देस परदेस माहरी आल ओलाद पीढी दर पीढी ओजा रिषभदेव रो[1]।'

मुसलमानो शासन के कारण अरबी-फारसी के भी कई शब्द बोलचाल की भाषा मे प्रवेश पा गए हैं। उपरोक्त ताम्रपत्र मे भी कदीम, लवाजमो, आल-ओलाद आदि शब्दो का प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

श्री मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे सवत् १५३२ के लगभग *लिखे गए एक ताम्रपत्र का उल्लेख किया है—*

'धरतो वीघा तीन सै सुर प्रब मे उदक आघाट श्री रामार अरपण कर देवाणी सो अणी जमी रौ हासल भोग डड वराड लागत वलगत कुडा नवाण रुख वरख आबा महुडा मर को खडम सरव सुदी थारा बेटा पोता सपुत कपुत खाया पाया जायेला।'

---

[1]मारवाड का सक्षिप्त इतिहास—ले० रामकरण आसोपा, पृष्ठ १८५ से उद्धृत।

जैन धर्म के उद्धारक भगवान महावीर ने लोक-भाषा मे अपने प्रवचन किए और परवर्ती जैनाचार्यों ने भी लोक-भाषा का सदा आदर किया और उनमे निरन्तर साहित्य-निर्माण करते रहे। अतएव लोक-भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन की सामग्री केवल जैन साहित्य मे ही सुरक्षित है। जैन आचार्यों ने लोक-भाषा मे केवल रचनाये ही नही की, अपितु उन रचनाओ को सुरक्षित रखने का भी महान् प्रयत्न किया। जैन भडारो में से बहुत-से ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनकी अन्यत्र कही भी प्रतिया उपलब्ध नही होती।

जैन भण्डारो से उपलब्ध सोलहवी शताब्दी मे रची गई दो-तीन रचनाओ का उल्लेख करना यहा अनुचित न होगा। जैसलमेर के जैन भण्डार से १६वी शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया एक विशिष्ट वर्णनात्मक ग्रन्थ अपूर्ण रूप मे प्राप्त हुआ है, जिससे तत्कालीन भाषा पर अच्छा प्रकाश पडता है। इनमें से कुछ वर्णन तो सस्कृत में है किन्तु अधिकाश वर्णन राजस्थानी मे ही लिखा गया है—

रसवति वरणन—

उपलइ मालि प्रसन्नइ कालि। भला मडप निपाया, पोयणी नै पानै छाया। केसरू कु कमना छडा दीधा। मोती ना चौक पूरचा। ऊपरि पचवरणा चन्द्रवा बाध्या, अनेक रूपे आछी परियछोना रग राध्या। फूला ना पगर भरचा, अगर ना गध सचरघा। धान गादी चातुरि चाकला, बइसण हारा बइठा पाताळा। सारुवा घाट मेलाव्या आगलि पाट। ऊची आडणी, झलकती कु डली। ऊपरि मेलाव्या सुविसाल थाळ, वाटा, वाटली सुवरणमई कचोली। रूपा नी सीप ढूकी, इसी भात मूकी।'

इस काल में तुकात गद्य वाले और विशिष्ट वर्णनात्मक गद्य ग्रन्थ राजस्थान में निरन्तर बनते रहे है। राजस्थानी की इस परम्परा पर सस्कृत के काव्यकार बाण की रचना में भाषा की चित्रोपमता, लय-समन्वित विचारो की नूतन परम्परा तथा अलकरणप्रियता अधिक है। दडी की भाषा शिष्ट, स्निग्ध एव शान्त है। पद-विन्यास की प्रौढता अनूठी लाक्षणिकता, सजीव मूर्तिमत्ता का समावेश उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि का मनोरम प्रयोग आदि विशेषताएँ दडी के साहित्य में बहुलता से मिलती हैं। राजस्थानी गद्य-काव्यो में भी अलकरण-प्रियता अधिक है। सस्कृत मे ऐसे गद्य के लिए जिसमें अनुप्रासो और समासो की अधिकता हो एव जिसमें पद्य का सा आनन्द आवे, वृत्तगधी का उल्लेख किया गया है। गद्य की भाषा हमारे जीवन के अधिक समीप है, अतः अत्यधिक

भावुक हृदय कविजन, जिन्हें छन्दो की कृत्रिमता प्रिय नही है, इसी के माध्यम से अपने भावो को व्यक्त करते हैं, किन्तु उस समय के साहित्य पर पडा हुआ पद्य का विशाल प्रभाव, उन्हें पद्य के समीप रहने की ही प्रेरणा देता था। अत गद्य होते हुए भी उनके पढने और सुनने में पद्य के समान आनन्द या रस प्राप्त होता है। ऐसे गद्य-काव्यो का यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में असफल होने पर ही कविगण गद्य का आश्रय लेते हैं। पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में पूर्ण सफल व्यक्ति ही गद्य-काव्य क्षेत्र में उतर सकते हैं। गद्य की स्वाभाविकता ने जहा लेखको को गद्य लिखने के लिए प्रोत्साहित किया वहा पद्य की एक लय, एक ध्वनि, एक आश्रय की सत्ता का भी उन्होने उपयोग किया। यह वह समय कहा जा सकता है जब कि गद्य पद्य से अलग होने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु पद्य के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त अभी तक न हो सका था। सम्भवत गद्य-काव्यो की इतनी प्राचीन परम्परा आधुनिक समय में प्रचलित अन्य भाषाओ में नही मिलती।

सोलहवी शताब्दी के उत्तरकाल में निर्मित दो और पद्यानुकारी कृतियो का उल्लेख हम यहा कर रहे हैं। ये दोनो राजस्थानी साहित्य-संग्रह भाग १ में प्रकाशित हो चुकी हैं।[1] जैसा कि हम लिख चुके हैं, ये रचनाएँ गद्य में होने पर भी पद्यात्मक शैली से प्रभावित हैं—

१. 'पहिलउ दामा-पुरोहित तणी नगरी श्री तिमरी आविया पइसा रा मोटइ मडाण कराविया, जागी ढोल झालरि सखि वादित्र वजाविया, विहुं पासे पटकूल तणा नेजा लहकाविया, पगि पगि खला नचाविया, तणिया तोरण वधाविया। गीत गान कीधा प्रून मन्त्रम सूहव सिरि दीधी, भला मगळीक कीधा। घरि-घरि गूडी ऊछळी, श्री सघ तणी पुगी रळी। दाहो तरसी वरसा तणी वाण भागी, पुण्य तणी वेली वधिवा लागी। मरव का मेळउ हुयउ। अभग जोडी वडा वधव श्री सूजा सहित राउल सातल वणविनउ सोभइ।'

२ 'मिळिया ओसवा'ळ श्रीमाळ डिलीवाळ, खडेलवाळ, गुजराती, मेवाती, जैसलमेरा, अजमेरा, भटनेर, सिंधू, बहुतेरा गोडवाडा, मेवाडा, मारुआडा, महेवेचा, कोटडेचा, पाटणेचा, माडचा सोवन पाट, धवळिया मंदिर हाट, फूल विखेरया वाट, एकन हुया महाजन-तणा घाट, ढमक्या ढोल-निसाण, ऊमटिया गरतर ना खुरसाण, उछव करइ जिणराज ठाकुर सुजाण। वाजिवा लागा तूर, ऊगा आणद पूर, भट्ट थट्ट लहइ कूर कपूर, याचक आपइ आसीस लहइ बोल रभोग, न करइ लगाइ रोग, पूगो मनइ जगीस, पूत कळस ले नारी आवइ, धवळ मगळ गावइ, मोतिए गुरुइ वधावइ, ऊपरि अति बहुमूल, उतारइ सोवन फूल, उछाळइ चावळ, फूआ वळाउळ, जाणिवा लागा रावळ, जिसा गयणि गाजइ बादळ, तिसा रळी रळी रणकइ मादळ, चउपट चडसाळ वाजइ ताळ कसाळ।'

सोलहवी शताब्दी के अन्त तक आते-आते राजस्थानी गद्य कई विधाओं में प्रस्फुटित होने लगा। बात, ख्यात, पीढी, वशावली, टीका (टब्बा, बालावबोध आदि) वचनिका, हाल, पट्टा, बही, शिलालेख, खत आदि के रूप में राजस्थानी गद्य के विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं। आगे जाकर बात, ख्यात आदि के माध्यम से गद्य ने राजस्थानी साहित्य को अनुपम देन दी है जिसका महत्व आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राचीन गद्य साहित्य में असाधारण है।

भावुक हृदय कविजन, जिन्हें छन्दो की कृत्रिमता प्रिय नही है, इसी के माध्यम से अपने भावो को व्यक्त करते हैं, किन्तु उस समय के साहित्य पर पडा हुआ पद्य का विशाल प्रभाव, उन्हें पद्य के समीप रहने की ही प्रेरणा देता था। अत. गद्य होते हुए भी उनके पढने और सुनने में पद्य के समान आनन्द या रस प्राप्त होता है। ऐसे गद्य-काव्यों का यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में असफल होने पर ही कविगण गद्य का आश्रय लेते हैं। पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में पूर्ण सफल व्यक्ति हो गद्य-काव्य क्षेत्र मे उतर सकते हैं। गद्य की स्वाभाविकता ने जहा लेखको को गद्य लिखने के लिए प्रोत्साहित किया वहा पद्य की एक लय, एक ध्वनि, एक आश्रय की सत्ता का भी उन्होने उपयोग किया। यह वह समय कहा जा सकता है जब कि गद्य पद्य से अलग होने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु पद्य के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त अभी तक न हो सका था। सम्भवत. गद्य-काव्यो की इतनी प्राचीन परम्परा आधुनिक समय में प्रचलित अन्य भाषाओ में नही मिलती।

सोलहवी शताब्दी के उत्तरकाल में निर्मित दो और पद्यानुकारी कृतियो का उल्लेख हम यहा कर रहे हैं। ये दोनो राजस्थानी साहित्य-संग्रह भाग १ में प्रकाशित हो चुकी हैं।[1] जैसा कि हम लिख चुके हैं, ये रचनाएँ गद्य में होने पर भी पद्यात्मक शैली से प्रभावित हैं—

१. 'पहिलउ दामा-पुरोहित तणी नगरी श्री तिमरी आविया पइसा रा मोटइ मडाण कराविया, जागी ढोल झालरि सखि वादित्र वजाविया, विहु पासे पटकूल तणा नेजा लहकाविया, पगि पगि खेला नचाविया, तणिया तोरण बधाविया। गीत गान कीधा प्रून कल्ठम सूहव सिरि दीधी; भला मगळीक कीधा। घरि-घरि गूडी ऊछळी, श्री सघ तणी पूगो रळी। दाहो तरसी वरसा तणी वाण भागो, पुण्य तणी वेलो वधिवा लागी। गरव.. का भेळउ हुयउ। अभग जोडी वडा वघव श्री सूजा सहित राउल सातल वणविनउ गोभइ।'

---

[1] ये दोनों रचनाएँ सवत् १५४८ एवम् १५६६ के मध्य मे रची गई है। पहली रचना मे जैसलमेर के राव सातल का परिचय दिया गया है, एवम् दूसरी रचना मे खरतरगच्छाचार्य श्री शान्तिसागर सूरिजी के वैदिप्द्य पर प्रकाश डालने के साथ ही तत्कालीन जोधपुर नरेश की वीरता एवम् उदारता का उल्लेख है।

२ 'मिळिया ओसवाळ श्रीमाळ डिलीवाळ, खंडेलवाळ, गुजराती, मेवाती, जैसलमेरा, अजमेरा, भटनेर, गिघू, वहुतेरा गोडवाडा, मेवाडा, मारुआडा, महेवेचा, कोटडेचा, वागणचा, माडया गोवन पाट, धवळिया मदिर हाट, फूल विखरया वाट, एरन हुवा महाजन-तणा घाट, ढमक्या ढोल-निसाण, ऊमटिया खरतर ना खुरसाण, उछव करइ जिणराज ठाकुर सुजाण। वाजिवा लागा तूर, ऊगना आणद पूर, भट्ट थट्ट लहइ कूर कपूर, याचक आपइ आसीस लहइ बोल नभीम, न करइ लगाइ रोग, पूगी मनइ जगीस, पूत धळस ले नारी आवइ, धवळ मगळ गावइ, मोतिए गुरइ वधावइ, ऊपरि अति वहुमूल, उतारइ सोवन फूल, उछाळइ चावळ, फूआ वळाउळ, जाणिवा लागा रावळ, जिसा गयणि गाजइ वादळ, तिसा रळी रळी रणकइ मादळ, चउपट चहसाळ वाजइ ताळ कसाळ।'

सोलहवी शताब्दी के अन्त तक आते-आते राजस्थानी गद्य कई विधाओ मे प्रस्फुटित होने लगा। वात, ख्यात, पीढी, वशावली, टीका (टब्बा, वालाववोध आदि) वचनिका, हाल, पट्टा, वही, शिलालख, खत आदि के रूप में राजस्थानी गद्य के विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं। आगे जाकर वात, ख्यात आदि के माध्यम से गद्य ने राजस्थानी साहित्य को अनुपम देन दी है जिसका महत्व आधुनिक भारतीय भाषाओ के प्राचीन गद्य साहित्य में असाधारण है।

आदिकालीन राजस्थानी दोहा-साहित्य

प्रो० ओमानन्द रू० सारस्वत

दोहा : राजस्थानी साहित्य का एक अत्यन्त लोकप्रिय एवं अति महत्त्वपूर्ण साहित्य-प्रकार है। अतः राजस्थानी दोहा साहित्य के आदिकालीन विकास पर विचार करने के पूर्व 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति, दोहे के उद्भव एवं दोहे की प्राचीनता पर अति संक्षेप में विचार करना समीचीन होगा।

'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति : अनेक विद्वानों के दृष्टिकोणों पर विचार करने के पश्चात् 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति की दो संभावनाएँ उचित एवं प्रमाणयुक्त लगती हैं।[1] प्रथम, व्युत्पत्तिनिमित्त के अनुसार 'दोधक' शब्द से ही 'दोहा' शब्द व्युत्पन्न हुआ उपयुक्त सिद्ध होता है। ऐसी हालत मे संस्कृत के 'दोधक' छंद से दोहे का सम्बन्ध होने या न होने की सभावना छोड़ कर अर्थ-परिवर्तन मानना चाहिये। दूसरे, प्रवृत्तिनिमित्त से 'दोहा' लोक भाषा का शब्द और छद मानना पड़ेगा। ऐसी हालत में इसे देशज शब्द कहना ही उचित है।

दोहे का उद्भव : छदो की उत्पत्ति के मूल मे 'लय' का होना ही सभव लगता है। दोहा अपभ्रंश युग का मात्रिक छद है। इसके पूर्व संस्कृत और प्राकृत भाषाओ की प्रतिष्ठा प्रस्थापित हो चुकी थी। संस्कृत मे मात्र वर्णवृत्तो का ही उल्लेख मिलता है। वहाँ मात्रिक छद नही हैं। सस्कृत मे सुभाषित की भाँति सत्य को प्रगट करने वाले मुक्तक ही हैं। मुक्तको मे संस्कृत का अनुष्टुप छद अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। अनुष्टुप के बाह्य आकार को देखने से स्पष्ट है

---

[1] विविध विद्वानो के मतो का खण्डन लेखक ने अपने 'राजस्थानी दोहा साहित्य : एक अध्ययन' नामक शोध प्रबन्ध मे विस्तार से किया है।

कि संस्कृत का यह सुभाषित एवं अति प्रचलित श्लोक या छंद दो पंक्तियों का एवं दोहा जैसे ही बाह्यरूप का है। वेदों में भी अनेक अनुष्टुप इस प्रकार के ढूँढे जा सकते हैं, जिनमें दोहे के किसी चरण की समानता स्पष्टतः लक्षित है। इससे यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि इस प्रकार के छंद की ध्वनि हजारों वर्षों पूर्व की है। प्राकृत में 'गाथा' का भी इसी भांति प्रचलन हुआ। गाथा का भी वाह्य रूप दोहे जैसा ही लगता है। कालान्तर में अपभ्रंश में दोहा छंद भी इसी प्रकार प्रचलित एवं प्रिय छंद रहा। यह छंद भी अनुष्टुप एवं गाथा की भांति सुभाषित तथा मुक्तक की रचना के लिए मान्य हुआ। इससे यह एक निष्कर्ष तो सहज ही निकाला जा सकता है कि दो पंक्तियों के एक सीमित मर्यादित एवं विशिष्ट साइज के छंद को नीति, सुभाषित या मुक्तक के रूप में सर्वमान्यता प्राप्त होती रही है। दोहा अपभ्रंश का छंद है। अपभ्रंश का काल साधारणतः तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। 'अपभ्रंश' का प्रयोग पतंजलि में भी मिलता है, किन्तु वहाँ अपभ्रंश और अपशब्द पर्यायवाची हैं। लगता है उन्होंने किसी भाषा विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। दंडी ने अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृत के इतर शब्दों के लिए किया है।[1] अतः दंडी तक यह शब्द भाषा विशेष के लिए माना जाने लगा होगा। इस भाषा का स्वर्णयुग छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक मानना चाहिये। इसी बीच अपभ्रंश के अनेक मात्रिक एवं वर्णिक छंदों का प्रचलन हुआ। इस छंद के उद्‌भव की अनेक संभावनाएँ मानी जा सकती हैं। सभी पर विस्तारपूर्वक विचार करने का अवसर यहाँ नहीं है, अतः चार संभावनाओं का उल्लेख कर के संतुष्ट होना पड रहा है—

एक—सम्भव है प्राकृत-युग में अपभ्रंश के लोकभाषा रूप के समय इस छंद को जन-समूह ने जन्म दिया हो।

दो—यदि हम अपभ्रंश भाषा के इस छंद की साहित्यिक प्रतिष्ठा में कुछ वर्ष मान लेवें तो भी इस छंद का उद्‌भव काल आज से डेढ हजार वर्ष पूर्व के पश्चात् नहीं ला सकते।

तीन—दोहे का उद्‌भव भारतीय परम्परा में ही निहित है, अतः किसी विदेशी छंद से जन्म या प्रभाव होने की बात नहीं मानी जा सकती।

---

[1] श्रीमद् राजेन्द्र सूरि-स्मारक ग्रंथ, पृ० ६१६

चार—हर एक छंद की उत्पत्ति निश्चित नही है, क्योंकि साहित्य में छंदों की जन्मपत्री रक्षित नही की जाती, अतः दोहे के उद्भव के बारे मे भी असंदिग्ध मत निश्चित नही किया जा सकता।

दोहे की प्राचीनता : दोहे की प्राचीनता के विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ कह सकना संभव नही है क्योकि लिखित साहित्य मे आने के पूर्व यह छन्द मौखिक साहित्य में भी अनेक वर्षों तक व्यवहृत होता रहा होगा। दोहा अपभ्रंश-युग का छन्द है, अत. अपभ्रंश-युग के पूर्व या अपभ्रंश के प्रारम्भ तक तो निश्चित ही इसका प्रचलन हो गया होगा। सभावना यह है कि यह प्राकृत-युग का एक लौकिक छंद रहा होगा जो अपभ्रंश-युग मे साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हो गया होगा। यदि इस मान्यता को स्वीकृत कर लिया जाय तो इस छद की प्राचीनता प्राकृत युग तक हम ले जा सकते हैं।

श्री रावत सारस्वत ने राजस्थानी साहित्य पर विचार करते हुए लिखा है कि, 'दोहा छद राजस्थानी साहित्य का सबसे प्राचीन प्रकार है जिसके उदाहरण विक्रम की दूसरी एवं तीसरी शताब्दी की रचनाओं तक मे भी मिलते हैं।'[1] किन्तु लेखक द्वारा पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे इस पर टिप्पणी नही की जा सकती। पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी ने भी दोहो की प्राचीनता तीसरी या चौथी शताब्दी तक मानी है। उनके ही शब्दों मे राजस्थानी और हिन्दी मे प्रसिद्ध दोहा छद के प्राचीनतम उदाहरण मुझे तीसरी-चौथी शताब्दी की रचनाओं में देखने को मिले।[2] मुनिजी ने भी प्रमाणो को प्रस्तुत नहीं किया है, अतः इस कथन पर भी तब तक कुछ नही कहा जा सकता, जब तक कि मुनिजी स्पष्ट प्रमाणों द्वारा विद्वानो के समक्ष अपने कथन की पुष्टि नही करते हैं। कुछ अन्य विद्वानो ने भी दोहे की प्राचीनता के सम्बन्ध में दूसरी शती से पाचवी शती तक के अनुमान की सभावनाएँ की हैं, लेकिन ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव मे ऐसी सम्भावनाओ को मान्य करना सम्भव नही है।

अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है।[3] इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि

---

[1] राजस्थान भारती (बीकानेर), १।१, पृ० ३२

[2] राजस्थानी साहित्य का महत्व (स० सेठ रामदेव चौखानी) मे उद्धृत राजस्थानी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से दिया गया मुनिजी का अभिभाषण।

[3] हिन्दी साहित्य का आदिकाल (डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० ९९

अपभ्रंश दोहा-प्रधान भाषा रही होगी और दोहा (तत्कालीन शब्दार्थ जो भी रहा हो) इस भाषा के प्रारम्भ से ही प्रचलित रहा होगा। दोहे का प्राचीनतम उदाहरण कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में प्राप्त है। यथा—

मइ जाणिअ मियलोयणी, णिसयर कोई हरेइ।
जाव ण णव जलि सामल, धाराहरु वरसइ॥

यह शुद्ध दोहा छंद है और इसकी भाषा भी अपभ्रंश है। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान जेकोबी को लगा कि यह रचना कालिदास की नहीं, अपितु प्रक्षिप्त है।[1] यदि इसे प्रक्षिप्त मान भी लेवें तो भी हम पाचवीं-छठी शताब्दी के इधर इस दोहे को नहीं ला सकते। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] और डा० धर्मवीर भारती[3] ने भी इसे मान्य रखा है। काश्मीरी कवि मखक के श्रीकंठचरित महाकाव्य के २५ वें सर्ग में भी दोहे का प्राचीन रूप प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि मखक ने जिस श्लोक का वर्णन किया है वह दोहा-सम ही है।[4] मखक कवि माघ से पूर्व का है। माघ का समय आठवीं शती माना गया है, अतः मखक का समय सातवीं शती से पूर्व मानने पर दोहे की प्राचीनता उक्त समय तक पहुँच जाती है। सरह के दोहा-कोष से भी दोहे की प्राचीनता सातवीं-आठवीं शताब्दी तक चली जाती है। इस कवि के रचनाकाल के विषय में विद्वान एक मत नहीं हैं। डा० विनयतोष भट्टाचार्य इसका समय ६३३ ई० (सं० ६९०) मानते हैं।[5] राहुलजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इसका समय ७६८ ई० से ८०९ ई० (सं० ८२५ से ८६६) तक के मध्य माना है।[6] अतः सरह के दोहों को मानवीं आठवीं शताब्दी तक के मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। आठवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य राजस्थान में भी जैन कवियों द्वारा रचित अनेक ग्रंथ मिलने

---

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल (डा० द्विवेदी), पृ० ९९

[2] वही।

[3] सिद्ध साहित्य (डा० धर्मवीर भारती)

[4] जोधपुर के श्री नित्यानन्द शास्त्री द्वारा व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।

[5] तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य (श्री नागेन्द्रनाथ उपाध्याय), पृ० १९८

[6] पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुलजी), पृ० १४७

हैं।[1] जोइन्दु रचित 'परमात्म-प्रकाश' के दोहे भी सातवीं शती के बतलाये जाते हैं,[2] किन्तु हजारीप्रसादजी उनको नवीं-दसवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मानते।[3] इन्हीं जोइन्दु अथवा योगीन्दु का 'योगसार' भी मिलता है, जिसका समय भी आठवीं-नवीं शताब्दी है।[4] मुनि रामसिंह के 'पाहुड दोहा' और देवसेन के 'सावयधम्म दोहा' म भी दोहो की प्राचीनता द्रष्टव्य हैं। रामसिंह का समय दसवीं शताब्दी[5] और देवसेन का रचनाकाल स० ९९० माना गया है।[6] इसी प्रकार पद्मकीर्ति (स० ९९२) के 'पास चरिउ' की ग्यारहवीं संधि के प्रत्येक कडवक के आरम्भ में पहले एक 'दुवई' फिर एक 'मात्रा' और तदन्तर एक 'दोहय' (दोहा) का प्रयोग भी दर्शनीय है।[7] धवल कवि (दसवीं शताब्दी) के 'हरिवंशपुराण' के कडवकों के अन्त मे कहीं-कहीं घत्ता में दोहा छंद और कहीं दोहक का प्रयोग मिलता है।[8] इसी प्रकार अब्दुलरहमान के 'सदेशरासक', देवसेन गणि के 'सुलोचना चरित', वज्रसेन सूरि के 'बाहुबलि घोर' आदि म भी दोहे के प्राचीन प्रयोग देखे जा सकते हैं।

दोहे की प्राचीनता पर विचार करने के उपरान्त यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि मुक्तक तथा प्रबन्ध रचनाओं से दोहे की प्राचीनता छठी शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक सिद्ध होती है। यही प्राचीनता यदि मौखिक परम्परा की दृष्टि से मानी जाय तो सम्भव है हम इसे दूसरी या तीसरी शताब्दी तक याने तीन सौ वर्ष और पीछे ले जा सकते हैं किन्तु सचोट प्रमाणों के अभावों मे इसे मात्र सम्भावना ही कहना चाहिये।

राजस्थानी दोहा-साहित्य का काल विभाजन राजस्थानी दोहों का प्रारम्भिक स्वरूप अत्यधिक अपभ्रंशमय है, जो स्वाभाविक भी है क्योंकि भाषा का स्वरूप

---

[1] वरदा (बिसाऊ), अंक १।१, पृ० १२ पर श्री अगरचन्द नाहटा का लेख।
[2] श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ, पृ० ६६४ पर श्री परशुराम चतुर्वेदी का लेख।
[3] हिन्दी साहित्य का आदिकाल।
[4] अपभ्रंश साहित्य (डा० कोछड), पृ० २७३
[5] पाहुड दोहा (कारंजा, सन् १९३३) भूमिका, पृ० १०३
[6] सावयधम्म दोहा, भूमिका, पृ० ८
[7] अपभ्रंश साहित्य (डा० कोछड), पृ० २१०
[8] आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना (डा० पुत्तूलाल), पृ० ३१५

सिक्को की भांति रात-भर में टालना असम्भव है। अतः प्रारम्भकालीन अनेक दोहों में जहां अपभ्रंश के शब्द, क्रियाएँ और सर्वनाम प्राप्त होते हैं, वहाँ राजस्थानी की शब्दावली और रूपसाम्य भी देखा जा सकता है। सधिकाल में अपभ्रंश और राजस्थान प्रदेश की लौकिक या देशीय भाषा का समन्वय हुआ होगा। आज अधिकृत विवरण के अभाव में उस काल की मिश्रित या समन्वित भाषा के दोहों पर विशेष प्रकाश नही डाला जा सकता, किन्तु जो भी फुटकर साहित्य उपलब्ध होता है, उसके विश्लेषण करने पर स्पष्ट ही एक भिन्न रूप के जन्म का आभास दृष्टिगोचर होता है। यह भिन्नता दसवीं शताब्दी के लगभग से प्रारम्भ होती है, इसलिए राजस्थानी दोहो की शिशुवस्था का समय भी वही मानना उचित है। दूसरे, चारण और भाटो के काव्योदय का समय भी लगभग वही है।[1] जैनो ने गाथा को महत्त्व दिया, किन्तु दोहो के प्रचुर उदाहरण भी इनकी रचनाओं में दसवीं शताब्दी से निरन्तर देखे जा सकते हैं। चारणों और जैनो के साथ-साथ कालान्तर में सभी राजस्थानी कवियो ने इस छंद को अपना लिया और १६वीं शताब्दी तक यह छंद प्रायः प्रत्येक कवि के लिए अनिवार्य सा बन गया। इसलिए राजस्थानी दोहा साहित्य का इतिहास-विभाजन कुछ भिन्न रूप से होना आवश्यक है। कुछ विशिष्ट विद्वानो द्वारा किया गया राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन निम्नलिखित है।

१ डा एल पी. टैसीटोरी ने भाषा के रूप को आधार मान कर दो स्थूल विभाजन किये हैं।[2] यथा—

(१) प्राचीन रूप स० १३५७ से लगभग स० १६५७ तक।

(२) नवीन रूप स० १६५७ से आज तक।

२ डा मोतीलाल मेनारिया ने क्रम को ध्यान मे रख कर चार विभाग किये हैं।[3] यथा—

(१) प्रारम्भ काल स० १०४५ से स० १४६० तक।

(२) पूर्वमध्यकाल स० १४६० से स० १७०० तक।

---

[1]हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० २१२

[2]वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेसदासोतरी, भूमिका, पृ० ४

[3]राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा० मेनारिया), पृ० ७७

(३) उत्तरमध्यकाल स० १७०० से स० १९०० तक।
(४) आधुनिक काल स० १९०० से स० २००५ तक।

३ प्रो० नरोत्तमदास स्वामी ने क्रमिक विकास मे थोडा अतर मान कर तीन विभाजक रेखाएँ इस प्रकार प्रस्तुत की हैं[1]—

(१) प्राचीन काल स० ११५० से स० १५५० तक।
(२) मध्य काल स० १५५० से स० १८७५ तक।
(३) अर्वाचीन काल स० १८७५ से आज तक।

४ 'ढोला मारू रा दूहा' के विद्वान सम्पादको ने राजस्थानी के विकास को दृष्टिगोचर रखते हुए चार भागो मे प्रस्तुत किया है।[2] यथा—

(१) प्राचीन राजस्थानी स० १००० से १२०० तक।
(२) माध्यमिक राजस्थानी स० १२०० से १६०० तक।
(३) उत्तरकालीन राजस्थानी स० १६०० से १९५० तक।
(४) आधुनिक राजस्थानी स० १९५० से आज तक।

५ डिंगल के मर्मज्ञ विद्वान श्री गजराज ओझा ने भी विकासात्मक अवस्था को ही मान्य किया है, किन्तु काल का थोडा अन्तर कर दिया है।[3] यथा—

(१) आरम्भ काल स० १००० से स० १४०० तक।
(२) मध्यकाल स० १४०० से स० १८०० तक।
(३) उत्तरकाल स० १८०१ से आज तक।

६ डा हीरालाल माहेश्वरी ने अपने शोध-प्रबन्ध मे बडे सचोट एव पुष्ट प्रमाणो के आधार पर आरम्भ के दो कालो का विभाजन निम्नलिखित रूपो मे मान्य किया है[4]—

(१) स० ११०० से स० १५०० तक विकास काल।
(२) स० १५०० से स० १६५० तक विकसित काल।

---

[1]राजस्थानी साहित्य, एक परिचय (प्रो० नरोत्तम स्वामी) पृ० २२
[2]ढोला मारू रा दूहा, पृ० १२१
[3]नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४, पृ० १८
[4]राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा० हीरालाल माहेश्वरी), पृ० २९, ३०

७. श्री पुरुषोत्तमदास स्वामी के अनुसार काल-विभाजन का निम्नलिखित रूप है[1]—

(१) प्राचीन राजस्थानी सं० १००० से स० १६०० तक।
(२) माध्यमिक राजस्थानी स० १६०० से स० १६०० तक।
(३) आधुनिक राजस्थानी सं० १६०१ से आज तक।

८ डा. जगदीशप्रसाद ने अपने 'डिंगल साहित्य' में टैसीटोरी के विभाजन को सर्वाधिक वैज्ञानिक मानते हुए भी अपना अलग काल-विभाजन प्रस्तुत किया है।[2] यथा—

(१) प्राचीन काल स० १३७५ से सं० १७०७ तक। (ईसवी सन् का परिवर्तित रूप)
(२) मध्य काल स० १७०७ से स० १६०७ तक।
(३) आधुनिक काल स० १६०७ से आज तक।

६. डा कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी साहित्य को शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य इन दो विभागो में विभाजित किया है तथा कालक्रम की दृष्टि से शिष्ट साहित्य का निम्नलिखित तीन युगों मे विभाजन किया है[3]—

(१) प्राचीन राजस्थानी स० १२०० से स० १६०० तक।
(२) माध्यमिक राजस्थानी स० १६०० से स० १६५० तक।
(३) आधुनिक राजस्थानी स० १६५० से आज तक।

मेरे विचार से ये सभी विभाजन प्रामाणिक प्राचीन पुस्तक ग्रन्थो की प्राप्ति पर आधारित हैं। दोहा मुक्तक है, अतः इसका रूप और प्राप्ति ग्रन्थ रचनाओ से भिन्न है। यह माना जा सकता है कि १४वी शती तक पुस्तक रूप मे रचनाओ का अभाव है, किन्तु स्फुट दोहो का काल इसके पूर्व है। अत राजस्थानी दोहो का इतिहास निम्नलिखित कालविभाजनानुसार सुविधाजनक एव वैज्ञानिक कहा जा सकता है—

(१) संधि काल स० ६०० से स० १३०० तक।
(२) आदि काल स० १३०० से स० १५०० तक।

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अक १४।१, पृ० २२४
[2] डिंगल साहित्य (डा० जगदीशप्रसाद) प० ११
[3] राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन, (डा० कन्हैयालाल सहल) पृ० १८६

(३) विकास एव विकसित काल स० १५०० से स० १६५० तक।
(४) पूर्व मध्यकाल स० १६५० से स० १८०० तक।
(५) उत्तर मध्यकाल स० १८०० से स० १९५० तक।
(६) आधुनिक काल स० १९५० से आज तक।

इन छ विभाजनो के लिए अनेक सचोट तर्क एव युक्तिसगत प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, यहाँ पर उनका विस्तार अभीष्ट नही है।[1] प्रस्तुत निबन्ध मे प्रथम दो कालो का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

सन्धि काल : सवत् ९०० से सवत् १३०० तक के सन्धिकाल मे राजस्थानी दोहे के आदि बीज निहित हैं। स्पष्ट है कि किसी साहित्य की विभाजक रेखा भाषाधार प्रान्त-निर्माण की भाँति नही प्रस्तुत की जा सकती क्योकि एक साहित्य दूसरे साहित्य मे ढलते-ढलते दो-तीन शतो का समय तो बडी सरलता से ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि प्रस्तुत सन्धिकाल के साहित्य को अनेक भाषाएँ अपने सन्निहित करने का लोभ सवरण नही कर सकती। इस काल की रचनाओ को कोई पुरानी हिन्दी, पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती कह देता है, वस्तुत यह काल अपभ्र श की परम्परा मे से अनेक देश भाषाओ के जन्म देने का काल है, अत इसे सधिकाल कह कर पुकारना उचित ही है।

इस काल मे अनेक स्फुट दोहो का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके रचनाकारो पर काल रूप अधकार का पर्दा पडा है। इन फुटकर दोहो मे राजस्थानी के कालान्तर के दोहो के रूप स्पष्ट देखे जा सकते हैं। यद्यपि इस युग के दोहाकारो का नामोल्लेख करना कठिन है, तथापि दोहो की प्रामाणिकता मे सन्देह नही किया जा सकता।

इस काल के दोहे सिद्धो, जैनो, नाथो तथा शृगारी कवियो द्वारा रचे गये हैं। दोहो मे अधिकाशत तीन वस्तुओ का वर्णन विशेष मिलता है—नीति, उपदेश और शृगार। राजस्थानी दोहा-साहित्य की वीर भावना का इस काल मे प्राय अभाव है, एक-दो स्थानो पर फुटकर रूप से वीरता आदि के दर्शन होने से वीर-भावना की प्रधानता नही कही जा सकती। दोहे के रूप के विषय म भी कोई निश्चित उल्लेख पिगल शास्त्रो म नही मिलता। दोहो के उदाहरणो

---

[1] लेखक ने अपने शोध प्रबन्ध मे अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं।

से स्पष्ट देखा जा सकता है कि १४+१२ मात्राओ का एवं १३+११ मात्राओं का प्रयोग होता रहा है। स० ६६० मे रचित देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' मे राजस्थानी दोहो के प्राचीन रूप देखे जा सकते है, यथा—

> *दिल्लउ होहि म इंदियउ, पंचह विण्णि णिवारि।*
> *इक्क णिवारहि जीहडी, अण्ण पराई णारि॥*[1]

प्रबन्धचिन्तामणि मे उद्धृत 'लाखा' के दोहे एवं 'मुज' की रचना भी दसवी शताब्दी की रचनाएँ होनी चाहिये, क्योकि इन दोनो की मृत्यु तिथियां क्रमशः सं० १०३६ एव सं० १०५० मानी गई हैं।[2] अतः निश्चित ही वे दोहे इन्ही व्यक्तिविशेष की रचनाएँ हैं तो उन रचनाओं का निर्माण-काल उक्त तिथियो के पूर्व ही मानना पड़ेगा। एक दोहे का उदाहरण है—

> *ऊग्या ताविउ जहि न किउ, लखउ भणई निघट्ट।*
> *गणिया लब्भई दीहडा, के दहक अहण अट्ठ॥*[3]

यहाँ 'लखउ भणई' मे 'लाखा भणै' (लाखा कहता है) का स्पष्ट अर्थ है, अतः प्रबन्धचिन्तामणि से उद्धृत यह दोहा उस पुस्तक याने सं० १३६१ से पूर्व का तो है ही, किन्तु यदि लाखा द्वारा रचित है तो इसका समय दसवी-ग्यारहवी शताब्दी है और यदि यह किसी अन्य कवि की रचना है तो भी 'वर्तमान-काल के अनुमान से लाखा के जीवन-काल की रचना मानने मे कोई एतराज नही होना चाहिये। इसी प्रकार 'सदेसरासक' मे अब्दुलरहमान ने भी जो दोहे रचे हैं, उनमे भी राजस्थानी और अपभ्रंश की सधिस्थली का स्वाभाविक आभास प्राप्त होता है।

१२ वी सदी के योगचन्द्र द्वारा रचित 'दोहासार' मे भी अनेक दोहो को सधिकाल के दोहे माने जा सकते हैं। वज्रसेन सूरि के 'भरहेसर बाहूबलि घोर' (स० १२२५)[4] में भी दोहो की अधिकता है और सधियुग की भाषा का स्पष्ट दर्शन है। महेश्वरी सूरि भी इसी काल का दोहाकार है।[5]

---

[1]सावयधम्म दोहा, पृ० ४०
[2]पुरानी हिन्दी (गुलेरीजी), पृ० ६१
[3]राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, (डा० कन्हैयालाल सहल) पृ० १४
[4]शोध पत्रिका, अक ३।३, पृ० १४१
[5]ढोला मारू रा दूहा, पृ० ११६

इन ज्ञात दोहाकारों के अतिरिक्त कितने ही दोहे अज्ञातनाम दोहाकारों के प्राप्त होते हैं। सिद्धराज सोलंकी के दरबार में 'करमाणद' नामक एक प्रसिद्ध दोहाकार के होने की भी सम्भावना की जाती है। यह अपने जोड़ीदार 'आणद' के साथ दोहों की रचनाएँ करता था। राजस्थानी में 'दूहै करमाणद' (करमानन्द के दोहे) प्रसिद्ध भी हैं।

इनके अतिरिक्त अज्ञात दोहाकारों के दोहे प्रामाणिक ग्रंथों में संग्रहीत भी मिलते हैं, जिनमें सन्धिकाल के दोहों का एक स्पष्ट रूप - निर्धारण करने में सहायता मिलती है। इसमें से तीन ग्रंथों का उल्लेख आवश्यक है—

१. सिद्ध हेमचन्द्रशब्दानुशासन : प्रसिद्ध जैन वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य की यह कृति सं० ११९२ के लगभग[1] रची गई। इसमें अनेक दोहे उदाहरणस्वरूप प्रयुक्त हुए हैं। इन दोहों की दो सम्भावनाएँ हैं—एक तो यह कि ये सभी दोहे हेमचन्द्र पूर्व प्रचलित थे और हेमचन्द्र ने उनको उद्धृत किया। दूसरे यह भी सम्भव है कि उद्भट विद्वान हेमचन्द्र ने ये सभी दोहे रच कर उदाहरण-स्वरूप रख दिये हों। दोनों ही अवस्थाओं में दोहों का रचनाकाल सं० ९०० से सं० १००० के मध्य आसानी से स्थिर किया जा सकता है। इतने प्राचीन दोहों में राजस्थानी दोहों का एक रूप बड़ी सरलता से देखा जा सकता है। कुछ दोहे तो कालान्तर में परिवर्तित होकर राजस्थानी में अत्यधिक प्रयुक्त हुए। पं० गुलेरी ने अपने 'पुरानी हिन्दी' निबन्ध में ऐसे दोहों एवं कुछ राजस्थानी रूपान्तरों का श्रेष्ठ संकलन किया है। कुछ दोहे प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजंतु वयंसि अहु, जइ भग्गा घर एंतु॥
वायसु उड्डावंतिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहिं गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति॥[2]

ये अति प्रसिद्ध दोहे हैं और आज भी थोड़े से रूपान्तर में समस्त राजस्थान में प्रचलित हैं। प्रथम में वीरता की भावना है जो कालान्तर में राजस्थानी दोहे में खूब फली। दूसरे में शृंगार की अतिशयोक्ति है, जिसका पोषण भी राजस्थानी दोहाकारों ने अपने दोहों में आगे चल कर किया। इन दोहों की समृद्धि राजस्थानी दोहों के इतिहास में क्रमबद्ध देखी जा सकती है।

---

[1] सिद्ध हेम, (श्री बूच और श्री ज. शा. पटेल), प्रास्ताविक, पृ० ४
[2] वही, पृ० १०

२ -कुमारपाल प्रतिबोध स० १२४१ को आपाढ शुक्ल अष्टमी रविवार को अनहिल पट्टन मे सोमप्रभ सूरि ने इसकी रचना समाप्त की थी।[1] इस ग्रथ मे उद्धरण स्वरूप रक्खे गये अनेक दोहो मे राजस्थानी दोहो के पूर्व रूप दिखलाई पडते हैं। दूसरे, स्वय सोमप्रभाचार्य द्वारा रचित दोहो मे तो सधि काल की भाषा का वडा स्पष्ट रूप है। जैन कवि द्वारा उद्धृत दोहो का समय स० ११०० अथवा उसके पूर्व का मानना वडा सरल है क्योंकि सौ-डेढसौ वर्ष की परम्परा में ये मौखिक या तत्कालीन लिखित साहित्य मे प्रचलित रहे होंगे ही। कुछ दोहो के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पिय हउ थक्कि सयलु दिलु, तुह विरहगि किलत।
थोडई जल जिम मच्छलिय, तल्लोविल्लि करत॥
अम्हे थोडा रिउ बहुय, इउ कायर चिंतति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु, कइ उज्जाउ करति॥[2]

पहले दोहे म शृगार है और 'पिय हू थक्की', 'थोडो जल', 'तलवल करते' आदि रूप राजस्थानी के अत्यन्त निकट हैं। दूसरा दोहा रुक्मिणी हरण के समय कृष्ण द्वारा रुक्मिणी को कहा गया आश्वासन है। इसमे भी 'म्हे' 'गिगन' आदि राजस्थानी के पूर्व रूप हैं। सोमप्रभ एव कवि सिद्धपाल द्वारा विरचित दोहो मे तो पूर्ण राजस्थानी अकुर है। स्वय गुलेरीजी ने इनको डिंगल कविता के बहुत मिलती-जुलती माना है।[3]

३. प्रबन्ध चिन्तामणि आचार्य मेरुतु ग द्वारा लिखित यह सस्कृत ग्रथ स० १३६१ की रचना है। इस ग्रथ मे उद्धृत अनेक दोहो मे सधिकाल की कविता का आभास मिलता है। इन दोहो का समय ग्रथ रचना के ५०-६० वर्ष पूर्व भी कहा जावे तो स० १३०० के पूर्व के आसानी से कहे जा सकते हैं। इन दोहो की भाषा अपभ्रश की उत्तरावस्था के उदाहरण एव राजस्थानी की पूर्वावस्था का रूप कहने मे कोई सकोच नहीं है। कुछ उदाहरणो से यह प्रमाणित किया जा सकता है।

१ अम्मणियो सदेसडमो, तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउ बलिवधणह मुहिज्ज॥

---

[1]पुरानी हिन्दी, पृ० ६२
[2]वही, पृ० ८७, ६२
[3]वही, पृ० ७०

२ मुज वडल्ला ढोरडी, पेक्खेसि न गम्मारि ।
आसाढि घण गज्जीइ, चिक्खिलि होसेऽवारी ॥
३. काण वि विरहकरालिइ, पइ उड्डावियउ वराउ ।
सहि अच्चभुउ दिट्ठु मइ, कण्ठि विलुल्लइ वाउ ॥
४ को जाणइ तुह नाह चित, तु हालेइ चक्कवइ लउ ।
लकहल वाहमग्गु निहालई करणउत्तु ॥[1]

पहले दोहे मे भापा का राजस्थानी पूर्व रूप है, अमीणो, सदेसडो, कान्ह, कहिज्ज या कहिजे(ह), जग-दालद, बधण आदि शब्दो से प्राचीन राजस्थानी दूर नही है। दूसरे दोहे मे ढोरडी (ढोरडी), गम्मारि (गवार) आदि शब्दो के साथ साथ इस दोहे के रचना तत्र पर आगे चल कर वर्षा सबधी अनेक दोहो मे ऐसी ही शृगारिक भावनाएँ देखी जा सकती हैं। तीसरे दोहे मे विशिष्ट सकेत 'सहि' याने हे सखि !' द्रष्टव्य है क्योकि कालान्तर मे अनेक दोहे 'हे सखि' के सम्बोधन या सखि के व्याज से निर्मित हुए। चौथे दोहे की भापा तो प्राचीन राजस्थानी के अत्यन्त निकट है ही। चौथे चरण मे 'करणउत्तु' (करणउत या करणोत) का प्रयोग कर्ण के पुत्र याने सिद्धराज के लिए हुआ है। यह प्रयोग आगे चल कर राजस्थानी दोहो की एक विशिष्टता बन गया और हजारो दोहे 'उत' प्रयोग के रचे गये।

इन दोहो के अतिरिक्त स० ११५७ मे सग्रहीत दोहाकोष[2], जिसमे सरह, काण्हपा आदि के दोहे है, मे भी राजस्थानी दोहो के सन्धिकाल का रूप है।

निष्कर्ष सधिकाल के दोहे अपभ्र श से प्रभावित हैं। अपभ्र श का भापा के रूप मे प्रचलन लगभग ५वी शती से १०वी शती रहा है और ९वी शती के बाद से तो इसे राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ है। इस भापा का समृद्धि-युग १२वी शती तक है और लगभग यही काल राजस्थानी दोहो का सधियुग है। राजस्थानी दोहे उस समय की लोक भाषा के साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। अत दोहो और दोहाकारो का विवरण प्राप्त न हो तो कोई आश्चर्य नही है। ढोला मारू रा दूहा' के सम्पादको से सभी की पूर्ण सहमती होनी चाहिए जब कि वे यह लिखते है— जब अपभ्र श के साहित्य का पता अभी बहुत कम लगा है तो फिर लोक भापा के साहित्य की बात तो जाने ही दीजिये। इस

---

[1]चारो दोहे पुरानी हिंदी से उद्धृत हैं।
[2]शोध-पत्रिका, अक १।१, पृ- २४ ।

काल मे भी साहित्यिक लोग अपनी रचनाएँ अपभ्र श मे ही लिखते होगे क्योकि वह शिष्ट भाषा समझी जाती थी। फिर वैदिक-मतानुयायी विद्वानो ने तो जनता की भाषा की कभी पर्वाह नही की। उन्होने जो कुछ लिखा प्राय सब का सब सस्कृत मे लिखा। प्राकृत और अपभ्र श भी जब उनकी कृपादृष्टि से बाहर रही तो बेचारी लोकभाषा की क्या कथा ? दूसरे, लेखक प्रधानतया जैन आचार्य आदि थे। वे भी बहुत दिनो तक प्राकृत और बाद मे अपभ्र श—तत्कालीन शिष्ट भाषाओ—के फेर मे पडे रहे। एकाध रचना हुई भी होगी तो कही किसी पुस्तक भडार में अधकार के गर्त मे छिपी पडी होगी।'[1] फिर भी सधिकाल के दोहो के जो रूप सग्रहो आदि में उद्धृत या सग्रहीत मिलते हैं, उनको देखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजस्थानी में कालान्तर की राजस्थानी के पूर्व रूप निहित हैं। भाषा की दृष्टि से अनेक शब्द-प्रयोग परम्पराओ की दृष्टि से अनेक शैलीगत प्रयाग और भावनाओ की दृष्टि से वोर, शृगार एव नीति के अनेक साम्य प्रयोग प्राप्त हैं। इस युग में सोरठवासी चारणो की दूहा-स्पर्धा प्रचलित थी। अत दोहो का प्रचलन राजस्थान और सौराष्ट्र-गुजरात में अत्यधिक गति से प्रारम्भ हो गया था। हेमचन्द्राचार्य तक दोहो का व्यापक प्रचलन हो चुका था, यह सप्रमाण कथन है।

सधिकाल के दोहाकारो का आधिकारिक वृत्त प्राप्त नही है, क्योकि दोहे मुक्तक रूप मे अन्य लेखको द्वारा उद्धृत मिलते हैं। कुछ दोह जैन कवियो के धार्मिक ग्रथादि में प्राप्त हैं।[2] इसलिये इस युग के तीन दोहाकारो का ही विवरण दिया जा रहा है—

(१) **योगचन्द्र**[3]—इनका समय १२वी सदी है। ये अपभ्र श और राजस्थानी के सधिस्थल के कवि हैं। इनकी 'दोहासार' पुस्तक प्राप्त है। 'योगसार के दोहो' का राजस्थानी रूपान्तर लगभग १६वी शताब्दी का प्राप्त है।

(२) **करमानन्द**[4]—'आणद' और 'करमाणद' नामक दो चारणो की

---

[1] ढोला मारू रा दूहा, पृ ११४

[2] द्रष्टव्य (अ) राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा मेनारिया, पृ ७८
(आ) ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, स नाहटाजी

[3] राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रथाक ५४१८, पृ १३५

[4] मरुवाणी (जयपुर), अक २।११, पृ २४

जोड़ी हेमचंद्राचार्य के युग में सिद्धराज सोलंकी के दरबार में थी। उन्होंने कंकाळण भाटणी को हराया था। आणंद दूहे की प्रथम पंक्ति कहता और करमाणंद दूसरी कह कर पादपूर्ति करता था। इनके दोहे गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध है—

> कवितै 'आलू' दूहै 'करमाणंद' पात 'ईसर' विद्या रो पूर।
> 'मेहो' छंदे भूलणे 'मालो' 'सूर' पदे गीतै 'हरसूर'॥

३. वज्रसेनसूरि[1]— अति प्राचीन काल के इस दोहाकार का विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं होता। इनकी एक कृति 'भरहेसर बाहूबलि घोर' का परिचय श्री भंवरलाल नाहटा ने दिया है, जिसके अनुसार ये देवसूरि नामक गुरु के शिष्य सिद्ध होते हैं। इनका रचनाकाल सं० १२२५ के लगभग माना गया है। इनके ग्रंथ के ४८ छंदों में से ३८ छंद दोहे हैं। इनकी भाषा प्राचीन राजस्थानी है जो प्रायः अपभ्रंश के निकट है। सभी दोहे सोरठिये दोहे हैं। उदाहरणार्थ एक दोहा प्रस्तुत है—

> पहु भर हेसर अेव, बाहू बलिहि कहावियउ।
> जइ बहु मन्नहि सेव, तो प्रवरण्ड सग्रामि थिउ॥

आदिकाल : राजस्थानी दोहों के आदिकाल की अवधि सं० १३०० से सं० १५०० तक की है। कुशललाभ ने सं० १६१८ के लगभग 'ढोला मारू' के प्रचलित दोहों का संकलन किया और उन पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा कि 'दूहा घणा पुराणा अछइ'।[2] 'घणा पुराणा' से स्पष्ट ध्वनि तीन सौ वर्ष पूर्व तक की माननी चाहिये क्योंकि सामान्यतया १००–१५० वर्ष प्राचीन वस्तु को हम 'पुरानी' कहते हैं, अत: 'अधिक पुरानी' वस्तु तीन सौ वर्ष की मानना उचित ही है। दूसरे, ढोला का समय सं० १००० का अनुमानित है, इसलिए नायक की मृत्यु के २०० वर्ष बाद तक के समय में इनका निर्माण हो ही जाने की संभावना ठीक भी लगती है। तीसरे, संधियुग के अनेक दोहे ढोला मारू के दोहों से अत्यधिक रूप-साम्य भी रखते हैं। चौथे, यह काल राजस्थानी में दोहों के प्रचलन का नया-नया था, अत: अनेक लोगों ने नये फैशन के तौर पर भी इस छंद को अपना लिया होगा। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ढोला

---

[1] शोधपत्रिका, वर्ष ३।३, पृ. १४१ पर श्री भंवरलाल नाहटा का लेख।
[2] ढोला मारू रा दूहा, पृ. ८

मारू रा दूहा' तत्कालीन लोकभाषा मे सवत् १३०० के आसपास रचा गया है। 'ढोला मारू' के दोहो से ही राजस्थानी दोहो का आदिकाल प्रारम्भ मानना चाहिए।

इन दो सौ वर्षो अर्थात् स० १३०० से स० १५०० तक के समय मे दोहो का प्रचलन एव व्यापकता बडी तीव्रता से बढी। इसी समय दोहो में अनेक छद-चमत्कार भी आये। मुक्तक परम्परा के साथ-साथ रासो आदि प्रबन्धो एव तत्कालीन प्रचलित गद्य पद्य प्रकारो में भी इस छद ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। इसी काल में दोहे का छद-रूप भी स्थिर हुआ। अभी तक १४+१२ आदि मात्राओ के दोहे प्रचलित थे, किन्तु 'प्राकृतपैंगलम्' तक १३+११ मात्राओ का क्रम लगभग स्थिर हो गया था। नादवैभवादि काव्य-चमत्कारो के साथ-साथ दोहो में प्रतिपाद्य विषयो में भी विविधता के दर्शन प्राय होते हैं। प्रेम, वीरता, भक्ति, प्रशस्ति, नीति आदि पर अनेक राजस्थानी दोहे इस युग में मिलते हैं।

इस युग की एक अति प्रचलित प्रवृत्ति प्रेम है। यद्यपि प्रेम के अनेक पक्षो का तथा पक्षो के सूक्ष्म निरीक्षण का वर्णन आगे के कालो में अधिक स्पष्टता से हुआ, तथापि प्रेमाभिव्यक्ति का प्रचलन आदिकालीन अनेक दोहो में देखा जा सकता है। ढोला मारू के दोहे' इस युग की विशिष्ट एव अन्यतम कृतियो में से है। एक लम्बी प्रम कथा के आधार पर रचित ये दोहे कही कही अत्यत मार्मिक अनुभूति का चित्रात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं। इन दोहो मे वर्णित प्रेम और विप्रलभ शृगार का विवरण-विवेचन 'ढोला मारू' के सम्पादको ने अति विस्तार से किया है'। उसकी पुनरावृत्ति करने का लक्ष्य यहाँ नही है किन्तु इतना निर्देश आवश्यक है कि प्रेम-कथा के इन दोहो का ऐतिहासिक दृष्टि से

अपने प्रेमकाव्य 'हंसाउली'[1] में भी दोहों का प्रयोग किया है। इन दोहों में साहित्यिक चमत्कार का अभाव तो है किन्तु सरलता और सादगी के दर्शन सर्वत्र किये जा सकते हैं। इस प्रकार आदिकाल मे प्रेम-भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए इस काल का एक दोहा लिया जा सकता है, जिसमें विरहिणी का एक चित्र प्रस्तुत हुआ है—

चंपा केरी पाखडी, गूंथूं नवसर हार।
जउ गळ पहरूं पीव विन, तउ लागे अंगार ॥[2]

वीरता राजस्थान और राजस्थानी की अपनी वस्तु है, जिसका दूसरे साहित्य में इतना परिमाण नही है। आदिकाल के कुछ दोहे वीर भावना से युक्त हैं। वीररस-प्रधान दोहों की प्राप्ति संधिकाल से ही होती है, किन्तु आदिकाल मे वीरता का रूप थोड़ा और अधिक स्पष्ट हुआ और आगे चल कर जब राजस्थान का युद्ध से रात-दिन का सम्पर्क स्थापित हुआ तो इन्ही दोहों का विकसित एव चरमरूप-चित्र देखा जा सकता है। 'रणमल्ल छंद' के कर्त्ता श्रीधर (स० १४५७) ने एक दोहे में मूछें फटकने का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है—

साहस वधि सुरताण दळ, समुहरि जिम चमक्कन्त।
तिम रणमल्लह रोस वसि, पुछ सिहरि फुरकन्त ॥[3]

यही मूछो का वर्णन भविष्य के राजस्थानी दोहो का एक महत्वपूर्ण विषय बना। इस युग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दोहाकार गाडण सिवदास (स० १४८५) ने अपनी गद्य-पद्य-मिश्रित रचना 'अचळदास खीची री वचनिका' में सभी प्रवृत्तियों को अपनाया, किन्तु वीरता-प्रधान दोहों के रूप में वीरता की भावना का पुष्ट परिपाक है। बादर ढाढी ने भी अपने 'वीरमांण' (वीरमायण) मे युद्ध और वीरता के अनेक चित्र दोहों में प्रस्तुत किये हैं।

जैन कवियों और सन्तों ने अपनी कविताओं या वाणियों में दोहे का अत्यन्त प्रयोग किया है। सरहपा आदि भक्तो मे याने दोहा छद की प्रारम्भिक स्थिति में भी दोहा और भक्त दोनों का अभिन्न सम्बध रहा है। आदिकाल के

---

[1] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ १४
[2] ढोला मारू रा दूहा, पृ. ६०
[3] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ. ४६

जैन कवियो ने भक्ति में गाहा के साथ साथ दोहे का भी भरपूर प्रयोग किय
राज्याश्रित कवियो अथवा अन्य कवियो ने अपने आश्रयदाता अथ विशिष्ट व्यक्ति के लिए प्रशसात्मक अथवा प्रशस्ति के अनेक दोहो की रच की है। गाडण पसाहत (स० १४८०-१५३१)[1] के 'राव रिणमल रौ रूपक एव 'गुण जोधायण' म क्रमश रणमल और जोधाजी की प्रशस्ति है। इन दोन रचनाओ में दोहो का अभाव नही है।

नीति के दोहे सधिकाल से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु वस्तुत दोहो में नीति की प्रधानता पूर्वमध्यकाल से आई है जो आज तक देखी जा सकती है। आदि-काल में नीति के स्वतन्त्र ग्रथमय दोहो की रचना नही मिलती, फिर भी ग्रथ काव्यरूपो में दोहो में वर्णित नीति प्राप्त होती है। नाहटाजी के सग्रह में सुरक्षित एक सुभाषित की प्रति में अनेक नीति के दोह हैं। प्रति १५वी शती के लगभग रचित का अनुमान है।[2] १५ वी शताब्दी के कवि हरि भाट द्वारा रचित 'मान कुतूहल' में भी दोहो में नीति वर्णित है।

इस काल के मुख्य दोहाकारो का परिचय इस प्रकार है—

(१) ठक्कर फेरु[3]—इनका रचनाकाल स० १३४७ है। ये दिल्ली के निकट कनाणा नगर के निवासी थे। पिता का नाम ठक्कुरचद था। ये अला-उद्दीन खिलजी के यहा उच्चाधिकारी थे। इनकी लगभग दस रचनाओ का उल्लेख है। भाषा पर प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव है।

(२) असाइत[4]—'हसाउली' नामक एक लघु पुस्तिका के लेखक असा-इत का जन्म सिद्धपुर में हुआ था। ये औदिच्य ब्राह्मण थ। पिता का नाम राजाराम कहा जाता है। 'हसाउली' में ४४० छद हैं और मध्य-मध्य मे दोहा छदो का प्रयोग भी हुआ है। इनका रचनाकाल सभी इतिहासकारो ने सवत् १४२७ माना है। एक दोह का उदाहरण निम्नलिखित है—

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी पृ ८८

[2] श्री अगरचद नाहटा का सग्रह।

[3] राजस्थान भारती, अक ६।३ ४, पृ ९२ पर श्री भवरलाल नाहटा का लेख।

[4] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० मेनारिया, पृ ८०, प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ २२।

सरोवर पालि उनर्‌या, वाडी कर्‌या विश्राम ।
ततक्षरिण चाल्यु कापडी, राजन कहिय प्रणाम ॥

(३) आल्हा चारण[1]—राव चूडाजी (स० १४३७) के सरक्षक रूप मे इनको रहने का अवसर प्राप्त हुआ है। विस्तृत विवरण की प्राप्ति के अभाव मे चूडाजी का समय ही इनका रचनाकाल मानना चाहिए। चूडाजी मडोर के स्वामी हुए तब इस चारण ने उनको प्राचीन स्मृति का स्मरण इस दोहे द्वारा कराया था—

चूडा नावे चीत, काचर कालाऊ तणा ।
भूप भयो भँभीत, मडोवर रै माळियै ॥

(४) श्रीधर[2]—ईडर नरेश राठौड रणमल के शासन-काल मे श्रीधर का वर्तमान होना माना जाता है। इनके जीवन के विषय मे आधिकारिक जानकारी का विवरण अज्ञात है। इनका प्रसिद्ध ग्रथ 'रणमल छद' है, जिसमे 'दुहा' छद का प्रयोग मध्य-मध्य में बडे ही कलात्मक ढग से हुआ है। इनका रचनाकाल स० १४५७ का माना जाता है। एक दोहे का उदाहरण प्रस्तुत है—

साहग वसि सुरताण दळ, समुहरि जिम दमकन्त ।
तिम तिम ईडरसिहर वरि, ढोल गहिर ढमकन्त ॥

(५) भीम[3]—इस कवि के जीवन की अधिक जानकारी नही है। यह 'सदयवत्स चरित' का लेखक था। इसका रचनाकाल स० १४६६ के लगभग माना जाता है। दोहे का उदाहरण निम्नलिखित है—

नाह तुहाला नेह, त्रिय ऊसकल एक भवि ।
जा दसवार न देह ए आपणउ न होमीइ ॥

(६) गाडण सिवदास[4]—सिवदास चारण मालव प्रात के खीचीवाडे का निवासी और गढ गागरोण के राजा अचळदास का समकालीन था। इनकी 'अचळदास खीची री वचनिका' बडा महत्त्वपूर्ण एव प्रतिष्ठित ग्रथ है। इसम

---

[1] राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, डा० सहल पृ ६७
[2] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ ४९, डिंगल साहित्य, डा० जगदीशप्रसाद, पृ २१
[3] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ ६६
[4] राजस्थान भारती भाग ५।१, पृ ८० पर श्री जुगलसिंह खीची का लेख, राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ ८३

जैन कवियो ने भक्ति में गाहा के साथ-साथ दोहे का भी भरपूर प्रयोग किया।

राज्याश्रित कवियो अथवा अन्य कवियो ने अपने आश्रयदाता अथवा विशिष्ट व्यक्ति के लिए प्रशसात्मक अथवा प्रशस्ति के अनेक दोहो की रचना की है। गाडण पसाइत (स० १४८०-१५३१)[1] के 'राव रिणमल रौ रूपक' एव 'गुण जोधायण' मे क्रमश रणमल और जोधाजी की प्रशस्ति है। इन दोनो रचनाओ में दोहो का अभाव नही है।

नीति के दोहे सधिकाल से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु वस्तुत दोहो में नीति की प्रधानता पूर्वमध्यकाल से आई है जो आज तक देखी जा सकती है। आदिकाल में नीति के स्वतत्र ग्रथमय दोहो की रचना नही मिलती, फिर भी अन्य काव्यरूपो में दोहो में वर्णित नीति प्राप्त होती है। नाहटाजी के सग्रह में सुरक्षित एक सुभाषित की प्रति में अनेक नीति के दोहे हैं। प्रति १५वी शती के लगभग रचित का अनुमान है।[2] १५ वी शताब्दी के कवि हरि भाट द्वारा रचित 'मान कुतूहल' में भी दोहो में नीति वर्णित है।

इस काल के मुख्य दोहाकारो का परिचय इस प्रकार है—

(१) ठक्कर फेरू[3]—इनका रचनाकाल स० १३४७ है। ये दिल्ली के निकट कन्नाणा नगर के निवासी थे। पिता का नाम ठक्कुरचद था। ये अलाउद्दीन खिलजी के यहा उच्चाधिकारी थे। इनकी लगभग दस रचनाओ का उल्लेख है। भाषा पर प्राकृत तथा अपभ्रश का प्रभाव है।

(२) असाइत[4]—'हसाउली' नामक एक लघु पुस्तिका के लेखक असाइत का जन्म सिद्धपुर म हुआ था। ये औदिच्य ब्राह्मण थ। पिता का नाम राजाराम कहा जाता है। 'हसाउली' में ४४० छद हैं और मध्य मध्य मे दोहा छदो का प्रयोग भी हुआ है। इनका रचनाकाल सभी इतिहासकारो ने सवत् १४२७ माना है। एक दोहे का उदाहरण निम्नलिखित है—

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ ८८

[2] श्री अगरचद नाहटा का सग्रह।

[3] राजस्थान भारती, अक ६।३-४, पृ ६२ पर श्री भवरलाल नाहटा का लेख।

[4] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० मेनारिया, पृ. ८०, प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ २२।

सरोवर पालि उतर्‌या, वाड़ी कर्‌या विश्राम ।
ततक्षणि चाल्यु कापडी, राजन कहिय प्रणाम ॥

(३) आल्हा चारण[1]—राव चूडाजी (स० १४३७) के सरक्षक रूप मे इनको रहने का अवसर प्राप्त हुआ है। विस्तृत विवरण की प्राप्ति के अभाव मे चूडाजी का समय ही इनका रचनाकाल मानना चाहिए। चूडाजी मडोर के स्वामी हुए तब इस चारण ने उनको प्राचीन स्मृति का स्मरण इस दोहे द्वारा कराया था—

चूडा नावै चीत, काचर कालाऊ तणा ।
भूप भयो भैभीत, मडोवर रै माळियै ॥

(४) श्रीधर[2]—ईडर नरेश राठौड रणमल के शासन-काल मे श्रीधर का वर्तमान होना माना जाता है। इनके जीवन के विषय मे आधिकारिक जानकारी का विवरण अज्ञात है। इनका प्रसिद्ध ग्रथ 'रणमल छद' है, जिसमे 'दुहा' छद का प्रयोग मध्य-मध्य में बडे ही कलात्मक ढग से हुआ है। इनका रचनाकाल स० १४५७ का माना जाता है। एक दोहे का उदाहरण प्रस्तुत है—

साहस वसि सुरताण दळ, समुहरि जिम दमकन्त ।
तिम तिम ईडरगिहर करि, ढोल गहिर ढमकन्त ॥

(५) भीम[3]—इस कवि के जीवन की अधिक जानकारी नही है। यह 'सदयवत्स चरित' का लेखक था। इसका रचनाकाल स० १४६६ के लगभग माना जाता है। दोहे का उदाहरण निम्नलिखित है—

नाह तुहाला नेह, त्रिय ऊसकल एव भवि ।
जा दसवार न देह, ए आवएउ न होमीइ ॥

(६) गाडण सिवदास[4]—सिवदास चारण मालव प्रात के खीचीवाडे का निवासी और गढ गागरौण के राजा अचळदास का समकालीन था। इनकी 'अचळदास खीची री वचनिका' बडा महत्वपूर्ण एव प्रतिष्ठित ग्रथ है। इसमे

---

[1] राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, डा० सहल, पृ. ६७

[2] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ ४६; डिंगल साहित्य, डा० जगदीशप्रसाद, पृ २१

[3] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ ६६

[4] राजस्थान भारती अक ५।१, पृ ८० पर श्री जुगलसिंह खीची का लेख, राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ ८३

दोहों का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है और अन्तमेल दूहों की बहुलता है। इनका रचनाकाल विवादास्पद है, किन्तु स० १४८५ के लगभग का अनुमान उपयुक्त ठहरता है। इनकी भाषा मे डिंगल का परिष्कृत रूप प्राप्त होता है। सिवदास के दोहे विकासात्मक अध्ययन एव साहित्यिक सौन्दर्य दोनो ही दृष्टि-कोणो से महत्त्वपूर्ण हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

निरणॅ अचल निडार, सूरा गुरु सूरिज उदै।
एकिणि दिसि आया असुर, पह दूजी परिवार ॥

(७) गाडण पसाइत[1]—इनका जीवन-वृत्तान्त प्राप्त नही है। इनका रचनाकाल स० १४८० से १५३१ के बीच अनुमानित है। ये रणमल या जोधा के आश्रित कवि रहे होगे। इनकी 'राव रिणमल रो रूपक' और 'गुण जोधा-यण' रचनाएँ मिलती है। दोनो ही रचनाओ में दोहा छद का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ एक दोहा प्रस्तुत है—

वघवाणी ब्रह्माणी कोमारी सरसति।
वीरत रिणमल नु करू, देवी देहि सुमत्ति ॥

(८) हीराणद सूरि[2]—इनकी 'विद्याविलास चौपाई पवाडऊ' आदि रचनाओ म दोहे मिलते हैं। स० १६७६ में लिपिकृत एक प्रति में इनका रचनाकाल स० १४८५ सिद्ध होता है।

(९) कवि मयण[3]—इनका रचनाकाल स० १४५० और १५०० के मध्य माना गया है। राजस्थानी वातो में इनका उल्लेख नाहटाजी को प्राप्त हुआ हैं। इनकी फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं।

(१०) कवि हरि भाट[4]—पन्द्रहवी शताब्दी विक्रमी के इस कवि का वृत्तान्त ज्ञात नही है। पता नही 'अजीतसिंह चरित्र' और 'राव अमरसिंह गजसिंघोत रा रूपक सवैया' रचनाकार हरिदास भाट और कवि हरि भाट एक

---

[1]राजस्थान भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ ८७

[2]राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान प्रथाक १८२७

[3]शोधपत्रिका, भाग ८, अक १ २, पृ ४३ पर श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, कवि चरित, श्री के का शास्त्री, पृ ६०

[4]शोधपत्रिका अक ८।४, पृ १७ पर श्री भवरलाल नाहटा का लेख, डिंगल साहित्य, डा० जगदीशप्रसाद, पृ १८

ही व्यक्ति हैं ? हरि भाट कृत 'मानव कुतुहल' या 'मानवती विनयवंती शतक' का पता चला है। इसमें दूहा छंद का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है—

> जो गुण ते दुरवि किया, मइ नहु वंच्या मित्र ।
> एक सहइ दूजी दहइ, एकण कारण चित्त ॥

(११) बहादर ढाढ़ी[1]—बादर या बहादर ढाढी का 'वीरमांण' (वीरवांण, वीरमायण) ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल सं० १५०० के आसपास मानना चाहिए। कुछ लोग अठारहवी शती भी मानते हैं। इनके ग्रंथ में दोहों का बडा सुन्दर प्रयोग प्राप्त है।

इन प्रमुख दोहाकारों के अतिरिक्त अनेक अज्ञातनाम दोहाकारों के दोहे भी मिलते हैं, जिन पर अधिकृत रूप से कुछ कह सकना अभी संभव नहीं है।

---

[1] राजस्थानी भाषा साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ ७४; राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की प्रति।

ऐसा साहित्य बहुत बड़े परिमाण मे आज भी प्राप्त है। जैसलमेर का प्राचीन ज्ञान-भण्डार तो विश्व-विश्रुत है। इस भण्डार मे १०वी शताब्दी तक की लिखी हुई ताडपत्रीय प्रति और १३वी शताब्दी तक की लिखी हुई कागज की कई प्रतियाँ प्राप्त हैं। १४वी, १५वी शती की लिखी हुई दो ऐसी सग्रह-प्रतियाँ मिली हैं जिनमे आदिकालीन राजस्थानी रचनाएँ भी काफी सख्या मे हैं। १२वी, १३वी शताब्दी की कई ताडपत्रीय प्रतियो मे भी अपभ्रश रचनाएँ मिलती हैं।

अपभ्रश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ। इसका प्राचीन नाम 'मरु-भाषा' था। स० ८३५ मे रचित 'कुवलयमाला' मे मरुप्रदेश की बोली की विशेषता का सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है। यद्यपि उस समय और उसके बाद की कुछ शताब्दियो का भी मरुभाषा का साहित्य आज प्राप्त नही है, क्योकि उस समय साहित्य-निर्माण की भाषा प्रधानतया प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रश थी। ११वी शताब्दी की अपभ्रश रचनाओ मे राजस्थानी भाषा के विकास के चिन्ह मिलने लगते हैं। कवि धनपाल रचित 'सच्चउरिय महावीर उत्साह' ऐसी ही एक रचना है।

इस उत्साह-सज्ञक रचना मे मारवाड के साचोर मे भगवान महावीर की जो प्राचीन मूर्ति है और उसे महमूद गजनवी ने तोडने का प्रयत्न किया था पर वह सफल नही हुआ, इसका ऐतिहासिक उल्लेख विशेष महत्व का है। यद्यपि उसमे महमूद गजनवी का स्पष्ट नाम नही है पर इस वर्णन से पहले के पद्य मे 'तुरक्क' शब्द आता है और सम्भवत 'कुविजोग नरेसए' आता है वह उसी के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। १५ पद्यो की इस रचना के प्रारम्भिक ३ पद्य और अन्त का एक पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रारभ—जिणव जेण दुट्टड कम्म, बलवता मोडिय,
चउ कसाय पसरत जेण, उम्मूल वितोडिय,
तिहुयण-जगडण-मयण सरहि, तणु जासु न भिज्जइ,
इयरनरहि सच्चउरि-वीर, सा किम जगडिज्जइ॥ १
वरसुरहि पहरत मघ, माहणसिरि तोडहि,
फरसु मरिय गब्भुरुय लेवि, तहवारिहि मोडहि,
ते तरिस पाविट्ठ दुट्ठ, भाट्ठ गुघीरह,
नयणिहि पेच्छहि जाव ताव, पहर तिन मोरह॥ २
भजवि णु सिरिमालदगु, भनु मणहिमवाडउ,
पट्टावल्लि सारट्ठु भग्गु पुणु देउवाडउ;

सोमेसरु सो तेहि भग्गु, जणमण आणंदणु,
भग्गु न सिरि सच्चउरि वीरु, सिद्धत्थह नंदणु ॥ ३

अन्त —रविय सामि पसरंतु मोहु, नेहुडुय तोडहि,
सम्मदसणि नाणु चरणु भडु मोह विहाडहि,
करि पसाउ सच्चउरि-वीरु, जइ तुह मणि भावई,
तइ तुट्टइ धणपालु जाउ, जहि गयउ न आवइ ॥ १५

अब उपरोक्त ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित बीच का एक पद्य दिया जा रहा है जिसमे कुहाडो से तोडने के प्रयत्न एव आज भी घाव होने का उल्लेख है—

पुणवि कुट्टाडा हत्थि लेवि, जिणवरतणु ताडिउ,
पच्छुथउवि कुहाडहि सो सिरि अराडिउ,
अज्जवि दीसहि अंगि घाय, सोहिय तसुधीरह,
चलणजुयलु सच्चउरि नयरि, पणमहु तसुवीरह ॥ ७[1]

इसम राजस्थान के एक प्राचीन जैन तीर्थ व मूर्ति सबधित ऐतिहासिक घटना का सम-सामयिक उल्लेख होने से भी इस रचना का विशेष महत्व है। वैसे भी धनपाल महाकवि हुए हैं। उनकी रचित तिलकमञ्जरी' कादम्बरी की टक्कर की अजोड कृति है। यह कवि विद्याविलासी महाराज भोज के सभा-पडित थे। मूलत ब्राह्मण थे पर जैन मुनि के सत्सग से जैन बने। ऐसे महाकवि का मारवाड मे पधारना भी उद्धर्णीय ह।

१२ वी शताब्दी मे रचित पल्ल कवि की 'जिनदत्तसूरि-स्तुति' 'अपभ्रश-काव्यत्रयी' हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह मे प्रकाशित है जिसकी स० ११७० ७१ की लिखी हुई ताडपत्रीय प्रतिया प्राप्त हैं। यह १० छप्पय छन्दो मे है। भाषा अपभ्रश प्रधान है। इसी प्रकार जिनदत्तसूरिजी की स्तुति रूप कई और छप्पय जैसलमेर भडार की ताडपत्रीय प्रति मे प्राप्त हुए थे, उनमे से १६ छप्पयों को हमने अपनी 'युग-प्रधान श्री जिनदत्तसूरि' पुस्तक के पृष्ठ न० ३ मे प्रकाशित किया था। यह अपूर्ण रूप से प्राप्त है। पता नही ऐसे और कितने पद्य रचे गए थे। स्वय जिनदत्तसूरिजी की चर्चरी काल-स्वरूप कुलक' एव 'उपदेश रसायन' रचनाएँ ३ 'अपभ्रश काव्यत्रयी' मे प्रकाशित हो चुकी हैं। इन आचार्य-श्री का विहार अधिकतर राजस्थान मे हुआ। इसीलिए इन्हे 'मरुस्थली कल्पतरु'

---

[1] जैन साहित्य सशोधक, वर्ष ३ मे प्रकाशित।

विशेषण दिया गया है। अजमेर नरेश अर्णोराज, त्रिभुवनगिरि के राजा कुमार-पाल इनके भक्त थे। जैसलमेर के निकटवर्ती विक्रमपुर और चित्तौड, नागोर आदि मे इनका काफी प्रभाव था। जिनदत्त सूरि सवधी प्राप्त अपभ्रश छप्पयो मे से यहाँ दो पद्य उद्धृत किए जा रहे हैं जिनमे से प्रथम पद्य मे अजमेर और साँभर के राजा के तुष्टवान होने का उल्लेख है।

नम (व) फणि 'पास' जिणिदु गढिउ, अन्नलि जु दिट्ठउ।
'अजयमेरि' 'सभरि नरिंदु', ता नियमणि तुट्ठउ॥
कचणमउ अइ कलसु सिहरि, सागउ रञ्जवियउ।
जणु सुतरणि तउ तनइ तिन्नु (त्यु), आयासि सउनउ॥
जा वुक्कमिसिण दक्खारविण, कर उब्भिवि फरहरइ धय।
'जिणदत्तसूरि' घर धम (व) लि जसि, तापसिद्धि सु भुयणि वय॥

जो सुर गुरु सिरि वद्धमाण, वसह मोत्ता मणि।
पणइ यग मण वछियत्थ, पूरण चिंतामणि॥
जो पच सरसु दुन्निवार, वारण समरेसरु।
सच्चारित्त अरिन्न कणय, सचयह गिरेसरु॥
सो नमहु सूरि जिणदत्त पहु, जुग पहाण लच्छिहि तिलउ।
तिलउ व्वसु पत्तिहि पहियरिउ, समण सुसमणसर निलउ॥

राजस्थान मे रची हुई ११ वी, १२ वी शताब्दी की इन अपभ्रश रचनाओ के प्रकाश मे १३ वी शताब्दी की राजस्थानी रचनाओ का परिचय अब दिया जा रहा है।

१३ वीं शती—

इस शताब्दी की रचनाओ मे भाषा की सरलता दृष्टव्य है और इसी को लक्ष्य मे लेकर प्राचीन राजस्थानी या गुजराती साहित्य का १३ वी शती से आदिकाल माना जाता है। १२ वी शताब्दी मे नागोर मे 'देवसूरि' नामक विद्वान आचार्य हो गए हैं जिन्होने पाटण मे महाराजा जयसिंह सिद्धराज की सभा मे दिगम्बर कुमुदचद्र के साथ शास्त्रार्थ कर के विजय प्राप्त की थी और तभी से ये 'वादि देवसूरि' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'प्रमाण नयतत्व लोकालकार' नामक दार्शनिक ग्रथ इनकी विशिष्ट रचना है। वैसे इन्होंने अपने गुरु मुनिचन्द्रसूरि की स्तुति रूप में २५ पद्य अपभ्रश में बनाए हैं जो गुजराती छाया के साथ 'जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेंस हेरल्ड' के सन् १९१७ के सितबर से नवबर के अको में प्रकाशित हो चुके हैं। इन वादि देवसूरि को नमस्कार कर के

वज्रसेनसूरि ने 'भरतेश्वर बाहुबलिघोर' नामक ४५ पद्यों की राजस्थानी मे रचना की है। इसे हमने राजस्थान भारती मे प्रकाशित करते समय संवत् १२२५ के आसपास की रचना बतलाया है। इसमें भगवान ऋपभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत और उनके भ्राता बाहुबली के युद्ध का वर्णन है ।

कोवानलि पज्जलिउ ताव, भरहेसरु जंपइ।
रे रे दियहु पियाणा, ढाक जिभु महियलु कपइ ।। २०

गुलु गुलंत चालिया, हाथिन गिरवर जगम।
हिंसा रवि जहि रिय दियंत, हल्लिय तुरंगम ।। २१

घर डोलइ खलभलइ सेनु, दिणियर छाइजइ।
भरहेसरु चालियउ कटकि, कसु ऊपमु दीजइ ।। २२

तति सुणे विणु बाहू बलिण, सीवह गय गुडिया।
रिण रहसिहि चउरंग दल्हिहि, वेउ पासा जुडिया ।। २३

अति चाखिउं पाडरं होइ, अति ताणिउ त्रूटइ।
अति मथियं होइ कालकूटु, अति भरियं फूटइ ।।
मडलियहु बाहूबलि भणइ, मन मरइ अखूटइ।
जा भुयदण्डहु पडइ पासि, सो किमइ न छूटइ ।। २४

देवसूरि पणमेवि समलु, तिय लोय वदीतउ।
वयरसेणसूरि भणइ एहु, रख रगुजु चीत ।। २५

उत्साह और घोर-संज्ञक अभी तक एक-एक रचनाएँ और उन्ही की एक-एक प्रति ही मिली है। उपरोक्त घोर हमे जैसलमेर भंडार की सवत् १४३७ की लिखी हुई प्रति मे मिली।

संवतोल्लेख वाली सर्व प्रथम राजस्थानी रचना भरतेश्वर बाहुबली रास है जिसे राजगच्छ के वज्रसेनसूरि के पट्टधर सालिभद्रसूरि ने स० १२४१ की फाल्गुन पचमी को बनाया है। इसमें भी भरतेश्वर बाहुबली के युद्धादि का वर्णन है। वस्तु, ठवणि, धवल, त्रूटक छन्द आदि के कुल २०३ पद्य हैं। इसमें उपरोक्त घोर की अपेक्षा भी भाषा सरल है। इस समय और इसके बाद की १५ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की सभी राजस्थानी रचनाओं में पद्य सख्या की दृष्टि से भी यह सबसे बडी रचना है। मुनि जिनविजयजी और पडित लालचद गाधी (गुजराती छापा) के सपादित दो सस्करण इस रास के प्रकाशित हो चुके हैं। इसके युद्ध-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिये ज। रहे हैं ।

त जण-मणहर मण-भ्राणदिहि ;
भाविहि भवीयण ! साभल भ्रो ॥ ३

भ्रन्त—दस दिसिइ वरतइ भ्राण, भड भरहेसर गहगहइ ए।
रायह ए गच्छ-सिणगार, वयरसेणसूरि-पाटधर ॥ २०३
गुण गणह ए तणउ भडार, सालिभद्रसूरि जाणीइ ए।
कीधउ ए तीणि चरितु, भरहनरेसर रासु छदिइ ॥ २०४
जो पढइ ए वसह-वदीत, सो नरो नितु नव निहि लहइ ए।
सवत ए बार एकतालि (१२४१), फागुण पचमिइ एउ कीउए ॥ २०५

भरतेश्वर वाहुवलि रास का प्रचार अधिक नही हो पाया इसलिए इसकी केवल दो ही प्रतियाँ मिल पाई हैं पर शालिभद्रसूरि की दूसरी कृति 'बुद्धिरास' लोकोपयोगी होने से अधिक प्रचारित हुई। इसमे भोले लोगो के लिए सिखामण (हितकारी शिक्षा) दी गई है। इसकी अधिक प्राचीन प्रति तो नही मिली, १६वी शताब्दी की प्रतियाँ मिली हैं। लोकप्रिय रचना होने के कारण उसकी भाषा में कुछ परिवर्तन भ्रा गया हो, पर उसकी भाषा है बहुत सरल। कुछ पद्य प्रक्षिप्त भी मिलते हैं। भ्रम्बिका भ्रौर गौतम स्वामी को नमस्कार कर के कवि ने सद्‌गुरु के वचन से भोले लोगो के लिए सिखामण देने के लिए यह कृति बनाई है। कवि लिखता है कि इसमे कई 'बोल' तो लोकप्रसिद्ध हैं भ्रौर कुछ गुरु के उपदेश से लिए गए हैं। नमूने के लिए तीन पद्य नीचे दिये जाते हैं—

जाणिउ धरमु म जीव विणासु, भ्रण जाणिइ धरिम करिसि वासु।
चोरीकाह चडइ भ्रणलीधी, वस्तु सु किमइ म लेसि भ्रदीधी ॥ ४
परि घरि गोठि किमइ म जाइसि, कुडउ भ्रालु तु मुहिया पामिसि।
जे घरि हुइ एकलि नारि, किमइ म जाइसि तेह घरबारि ॥ ५
घर पच्छोकडि राखे छीडी, वरजे नारि जि वाहिरि हीडी।
पर स्त्री बहिनि भणीनइ माने, पर-स्त्री वयण म धरज काने ॥ ६

मुनि जिनविजयजी ने 'भारतीय विद्या' के द्वितीय वर्ष, प्रथम भ्रक के प्रारभ मे भरतेश्वर बाहुवलिरास भ्रौर बुद्धिरास दोनो एक ही साथ प्रकाशित किए हैं। बुद्धिरास की सख्या ६३ है। हमारे सग्रह की प्रति मे इनमे से नम्बर ४१ से ४५ तक के ५ पद्य नहीं मिलते।

'भरतेश्वर वाहुवलिरास' के वाद की सवत् उल्लेख वाली रचना कवि भ्रासिगु रचित 'जीवदयाराम' है। स० १२५७ के भ्रासोज शुक्ला सप्तमी को ५३ पद्यो का यह रास सहजिगपुर के पार्श्वनाथ जिनालय म बनाया गया। कवि जालोर का निवासी था या वहाँ उसका ननिहाल था, जिससे वह जालोर मे भ्रा

गया था। शातिसूरि का वह भक्त था। अपने नाम के आगे वह 'कवि' विशेषण लगाता है इसलिए उसकी और रचनाएँ मिलनी चाहिये। हमारी खोज मे केवल 'चन्दनबाला रास' नामक एक और रचना मिली है। जीवदया रास की प्रति हमने मुनि जिनविजयजी को भेज कर उसे भारतीय विद्या, भाग ३ में प्रकाशित करवा दिया था। और 'चन्दनबाला रास' को राजस्थान भारती, भाग ३, अक ४ मे प्रकाशित किया जा चुका है। 'जीवदया रास' मे कवि ने अपना परिचय भी अच्छे रूप में दिया है और कुछ ऐतिहासिक सूचनाएँ भी दी हैं। कवि-परिचय वाले पद्य इस प्रकार हैं—

याला मन्नि तणइ पाछोपइ, वेहल महिनंदन महिरोपइ।
तसु सरवह कुलचद फलु, तसु कुलि आसाइतु अच्छतु।
तसु वलहिय पल्ली पवर, कवि आसिगु बहुगुण सजुत्तु ॥ ५१

सा तउपरिया (?) कवि जालउरउ, माउसालि सुमइ सीय लरउ।
आसीद वदोही (?) वयण, कवि आसिगु जालउरह आयउ।
सहजिगपुरि पासह भवणि, नवउ रासु इहु तिणि निप्पाइउ ॥ ५२
सवतु बारह सय सतावन्नइ (१२५७) विक्कमकालि गयइ पडिपुनइ।
आसोयहं सिममत्तमिहिं, हत्थो हत्थि जिण निप्पायन्न।
सनि सूरि पयभत्तयरिय, रयउ रासु भवियह मणमोहणु ॥ ५३

जीवदया के प्रभाव को बतलाने के लिए इस रास की रचना हुई है। पर इसमे जैन तीर्थों का भी कवि ने वर्णन किया है जिसमे साचोर, चड्डावलि, नागद्रह, फलवर्द्धि और जालोर आदि राजस्थान के हैं। जालोर मे महाराजा कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से 'कुमारविहार' नामक पार्श्वनाथ मदिर बनवाया था जिसका कवि ने वर्णन किया है। प्रारभ के पद्य में ही कवि ने अपना नाम और रास का विषय उल्लिखित कर दिया है—

उरि सरसति आसिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया सारु।
कन्नु धरिवि निसुणेहु जण, दुत्तरु जेमतरहु ससारु ॥ १

कवि ने कहा है कि ससार मे सब मनुष्य एक समान नही होते। जिन्होने दीन-दुखियो को दान नही दिया, उन्हे दूसरो के यहाँ नौकरी कर के आजीविका चलानी पडती है। इससे यह सकेत किया है कि दया भाव से दुखी प्राणियो को दानादि द्वारा सहायता करनी चाहिए। भाषा के उदाहरण के रूप मे तीन पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

कवि आसिग कलिअतरु जोइ, एक समाण न दीसई कोई।
के नरि पाला परिभमहि, के गय तुरि चडति सुखासणि।

केई नर कठा वहहि, के नर बइसहि रायसिंहासणि ॥ ३१
के नर सालि दालि भुजता। घिय घलहनु मज्झे विलहता।
के नर भूखा दूखियइ, दीसहि परघरि कम्मु करता!
जीवता वि मुआ गणिय, अच्छहि बाहिरि भूमि रलता ॥ ३२
के नर तबोलु वि समाणहि, विविह भोय रमणिहि सउ माणहि।
के वि अपुनइ दप्पुडइ, अणु हुतइ डोहला करता।
दाणु न दिन्नउ अन्न भवि, ते नर परघर कम्मु करता ॥ ३३

'जीवदया रास' की प्रति बीकानेर के खरतरगच्छीय वृहद्ज्ञान भडार मे मिली थी जो स० १४२५ के लगभग की लिखी हुई है। जैसलमेर जाने पर वहा स० १४३७ की लिखी हुई एक स्वाध्याय पुस्तिका मिली जिसमे आसिग कवि का 'चदन बाला रास' ३५ पद्यो का प्राप्त हुआ। इसमें सती चदन बाला और उसके द्वारा दिया गया भगवान महावीर को आहार-दान का प्रसग वर्णित है। यह रास भी जालोर में ही रचा गया था। राजस्थान का और राजस्थानी भाषा का यह सबसे पहला श्रावक कवि है। इसी समय के आसपास भडारी नेमिचद्र विद्वान् श्रावक हो गया है जो खरतरगच्छ के आचार्य जिनेश्वरसूरि का पिता था। वैसे ये मरोठ (मरुकोट) के निवासी थे, पर जिनेश्वरसूरि की दीक्षा खेडनगर मे और आचार्य पद-स्थापना जालोर मे हुई थी। नेमिचद्र भडारी रचित षष्टिशतक प्राकृत भाषा मे १६० गाथा का है। उसने गुरु गुण-वर्णन नामक ३५ पद्यो की रचना अपभ्रश-प्रधान राजस्थानी भाषा मे की थी जो हमारे सपादित 'ऐतिहासिक जैन-काव्य सग्रह' के पृष्ठ ३६६-७२ मे प्रकाशित हुए हैं। देल्हण रचित 'गयसुकमाल रास' ३४ पद्यो का जैसलमेर भडार से मुझे प्राप्त हुआ था जो राजस्थान भारती, भाग ३, अक २ मे छपवा दिया है।

सवत् के उल्लेख वाली तीसरी राजस्थानी रचना 'जम्बूस्वामि रास' महेन्द्र-सूरि के शिष्य धर्म ने स० १२६६ में बनाई। ४१ पद्यो की इस रचना म भगवान महावीर के प्रशिष्य जम्बूस्वामी का चरित्र वर्णित है। यह रास प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह मे प्रकाशित हो चुका है। इसके कई पद्य, जो ४ पक्तियो में हैं, दूसरी प्रतियो मे दो दो पक्तियो के मिलते हैं, इसलिए प्रकाशित पाठ ४१ पद्यो का है पर दूसरी प्रतियो मे उन्ही पद्यो की सख्या ५१, ६२ और ६७ तक पहुच गई है। अतिम केवली 'जबूस्वामी की कथा' बडी मार्मिक है। उन्होंने विवाह की प्रथम रात्रि मे ही ८ स्त्रियो को प्रतिबोध दिया था, साथ ही प्रभव नामक चोर भी ५०० चोरों के साथ प्रतिबुद्ध हुआ। रास का आदि अत इस प्रकार है—

आदि.—जिण चउवीसह पय नमेवि, गुरु-चलण नमेवी ।
जंबू सामिहितणउ चरिउ, भवि यहु निसुणेवी ।
करि सानिधु सरसत्तिदेवि, जिम रयउ कहाणउ ।
जंबू सामिहिं गुणगहण, संखेवि वखाणउ ॥ १

अन्त —वीर जिणिंदह तीथि, केवलि हूउ पाछिलउ ।
प्रभवउ यइसारीउ पाटि, सिद्धि पहुतु जंबुस्वामि ।
जंबू सामि चरित पढइ गुणइ जे सभलइ ।
सिद्धि सुख अणंत ते, नर लीलाहिं पामिसिइ ॥ ४०
महिंद सूरि गुरुसीस, धम्म भणइ हो धामीऊ ह ।
चिंतउ राति दिवसि, जे सिद्धिहि ऊमाहीया ह ।
बारह वरस सएहि कवितु नीपनूं छासठए (१२६६) ।
सोलह विज्जाएवि, दुरिय पणासउ सयल सघ ॥ ४१

जम्बू स्वामी' रास की तरह तो नही पर दो अन्य रचनाओ मे 'जिण धम्मु कहइ', 'जिणवर धम्मु करहु एकचिते' पाठ मिलता है। सभव है वे भी जम्बू रास के रचयिता 'धम्म' कवि की ही रचना हो। इनमे से 'स्थूलभद्र रास' ४७ पद्यो का है जिसे हमने 'हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ७, अक ३ मे प्रकाशित किया है। इस रास मे पाटलिपुत्र के राजा नद के मत्री शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र का जीवन-प्रसग वर्णित है। ये कोशा नामक वेश्या के यहा १२ वर्ष तक रहे थे, फिर जैन मुनि हो गए। मुनि अवस्था मे गुरु का आदेश लेकर फिर ये कोशा के घर जाकर चौमासा करते हैं और अपने दुर्धर शील का परिचय देते हैं। रास का आदि-अत इस प्रकार है—

आदि —पणमवि सासण अनइ वाएसरि ।
थूलिभद्द गुण गहणु सुणि वरह जुकेसरि ॥ १

अन्त. – बहुत कालु सजमु पालेहि, चउदह पूरब हियइ धारेहि ।
थूलि भद्दु जिण 'धम्मु' कहेइ, देवलोकि पहुतउ जाए वि ॥

दूसरी कृति 'सुभद्रा सती चतुष्पदिका' ४२ पद्यो की है। 'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष ६, अक १ से ४ मे इसे प्रकाशित किया जा चुका है। उसमे जैन-जगत मे प्रसिद्ध १६ सतियो में से सुभद्रा सती का चरित्र चौपई छन्द मे दिया गया है। प्रारभ और अन्त के पद्य इस प्रकार है—

ज फलु होइ गया गिरनारे, ज फलु दीन्हइ सोना भारे ।
ज फलु लखि नवकारिहि गुणिहिं, त फलु सुभदा चरितिहि सुणिहिं ॥ १
सुभदा मदिर पहुती जाव, सासू ससुरउ हरखिउ ताव ।

जिणवर धम्मु करहु एक चित्ते, जिण सासणु हुइ पर जयवतो ॥ ४१
पढहि गुणहि ज जिणहरि देहि, ते निच्छइ ससारु तरेहि ।
सुभद्रा सती चरितु सभलहि, सिद्धि सुक्खु लीलइत लहहि ॥ ४२

इसी 'सुभद्रासती चतुष्पदिका' की तरह एक अन्य सती मयणरेहा का भी रास मिला है जिसे सुभद्रा चौपई के साथ ही प्रकाशित किया गया है। उसके प्रारभिक ५॥ पद्य प्राप्त नही हुए। कुल ३६ पद्यो की रचना है। दोनो रचनाएँ एक ही प्रति मे लिखी मिली हैं। मयणरेहा का चरित्र बडा कारुणिक है। उसके पति सरलस्वभावी जुगबाहु को, जुगबाहु के भाई कामी मणिरथ ने मार डाला और मयणरेहा का सतीत्व अपहरण करने का सोचा, पर वह अपने शील पर अटल रही।

उपरोक्त रचनाएँ साहित्यिक भाषा मे हैं। बोलचाल की सरल भाषा की कुछ रचनाएँ भी इसी समय की प्राप्त हुई हैं जिनमे से 'जिनपतिसूरि वधावणा गीत' 'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष १२, अक १ मे मैंने प्रकाशित किया है। इसमे स० १२३२ के एक प्रसग का उल्लेख है। अत सभव है इसी के आसपास मे यह गीत रचा गया हो। २० पद्यो के छोटे से गीत मे से प्रारभ की कुछ पक्तिया यहा उद्धत की जा रही है—

आसी नयरि वधावणउ आयउ जिणपति सूरि जिनचद सूरि
सीमु आइया ला बधावणउ वजावि, सुगुरु जिणपति सूरि आविया लो आवणी
हरिया गावरि गाहलिया, मोतीय चउकु पुरेहु ॥ जिण० १
घरि घरि गूडिय उच्छलिया तारणि बुदरवाल । जिण० २
करड कनीलिय भालरिया, घाघरिया भणकारु ॥ जिण० ३
धनिए माई गनाखणी ए जायउ जिणपति सूरी ।
तिहुयणे जगि जसु धवलिया ले ॥ ४
'हाल महता इम भणइ (सयह हाइइ काई बालइ चादिरि चांदणउ)
सयह मणोरह पूरि ॥ जिण० ५

ऐसे ही जिनपतिसूरिजी के दो और गीत श्रावक कवि रयण और भनु के रचित हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, मे प्रकाशित हैं। इसमे स० १२७७ म सूरिजी के स्वर्गवास होने का उल्लेख है इसलिए इसके आसपास की ही रचना है। दोनो गीतो मे कई पद्य तो सम न से हैं।

सवतोल्लेख वाली अन्य रचनाओ मे आबू रास, रेवतगिरिरास उल्लेखनीय हैं। इन दोनों रासो मे आबू और गिरनार तीर्थ पर मत्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल ने सघ सहित यात्रा कर के मदिर बनवाये थे, उनका उल्लेख है। आबू रास स०

१४२५ के लगभग की लिखी हुई पूर्वोक्त जीवदयारास वाली प्रति में हमें प्राप्त हुआ था और उसे राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, के मुख पत्र 'राजस्थानी' भाग ३, अंक १ में प्रकाशित किया गया है। ५५ पद्यों के इस रास की रचना सं० १२८९ में हुई। इसका रचयिता पाल्हण[1] कवि प्रतीत होता है। आदि अंत के कुछ पद इस प्रकार हैं—

आदिः—पणमेविणु सामिणि वाएसरि, अभिनवु कवितु रयं परमेसरि।
नदीवरधनु जासु निवासो, पभणउ नेमि जिणंदह रासो॥ १
गूजर देसह मज्झि पहाण, चद्रावती नयरिवक्खाणं।
वावि सरोवर सुरहि सुणीजइ, बहुयारामिहि ऊपम दीजइ॥ २

अंतः—बार संवच्छरि नवमासीए (१२८८), वसंत मासु रभाउळ दीहे।
एहु गहु विस्तारिहिं जाएं, रासइ सयळ संघ अंबाए॥ ५४
रासह जासु जु आढइ खेडइ, रासइ ब्रह्म-संति मूढेरइ॥ ५५

'रेवतगिरिरास' श्री विजयसेनसूरि रचित है। इसमें ४ कड़व (क) है जिनमें क्रमशः २०, १०, २२ और २० पद्य हैं। गिरनारतीर्थ-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं।

रेवतगिरिरासः—अगुरु अजरा अविलीय अयाडय अंकुल्लु।
उबर अवर आमलीय, अगरु असोय अहल्लु॥ १५
करवर करपट करुणतर, करवदी करवीर।
कुडा कडाह कयव कद, कव्व कदलि कंपीर॥ १६
वेयलु वजलु बउल वडो, वेडस वरण विडग।
वासती वीरिणि विरह, वसियालो वरण वग॥ १७
सीसमि सिंबलि सिरसागि, सिंधुवारि सिरखंड।
सरल सार साहार सय, नागु सिगु सिणदड॥ १८
पल्लव फुल्ल फलुल्लसिय, रेहइ ताहि वणराइ।
तहि उज्जिलतलि धम्मियह, उल्लटु अगि न माद॥ १९

कड़वः—जिम जिम चडइ तडि कडणि गिरनारह।
तिम तिम ऊडइ (खेह) जण भवण ससारह।
जिम जिम सेउजलु अगि पालाट ए।
तिम तिम कलिमलु सयलु ओहट्टु ए।

---

[1] 'जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, पृष्ठ ३६८ में इसका रचयिता राम (?) लिखा है पर मेरे ख्याल से राम के कहने से पाल्हण ने बनाया है। 'रामवयण पाल्हण पुण कीजें'। आबू रास का अपर नाम नेमिरासो भी है।

जिम जिम चायइ चाउँ तहि निज्झरणीयलु ।
तिम तिम भव दाहो तवखणि तुट्टइ निच्चलु ॥ २
कोइल कलयलो मोरकेकारवो ।
सुमए महुयर महुर गुंजारवो ।
पाज चडतह सावयालोयणी ।
लाखारामु दिसि दीसए दाहिणी ।
जलद-जाल-ववाले नीझरणि रमाउलु ।
रेहइ उज्जिलसिहर ग्रलिकज्जल सामलु ॥ ३
महल बुहुधातुरस भेउणी, जत्थ झलहलइ सोवनमइ मेउणी ।
जत्थ दिप्पति दिवो सही सुदरा, गुहिर वर गम्य गभीर गिरि कदरा ॥
जाइ कुदु विहसतो ज कुसुमिहि सकुलु ।
दीसइ दस दिसि दिवसा किरि तारामडलु ॥ ४
मिलियन वलवलि दल कुसुम झलहालिया ।
ललिय सुरमहिन वय-चलण-तल-तालिया ।
गलियथल कमलमयरद जल कोमला ।
विउल सिलवट्ट सोहति तहि समला ।
मणहर-घण वण गहणे रसिर हसिय किंगरा ।
गेउ मुहुरु गायतो सिरि नेमि जिणेसरा ॥

'रेवतगिरिरास' प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह मे प्रकाशित हो चुका है । यद्यपि उसमें रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख नही है पर गिरनार के वस्तुपाल तेजपाल मन्दिर की प्रतिष्ठा स० १२८७ म हुई थी अत इस रास का रचनाकाल भी वही है ।

अब उन रचनाओ का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, जिनमें रचनाकाल उल्लेख तो नही है पर १३ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचनाएँ हैं ।

१ शातिनाथरास– इसकी एक अपूर्ण प्रति जैसलमेर भडार में मिली है । इसके प्रारभ मे जिनपतिसूरि के प्रतिष्ठित खेड नगर के श्रावक उद्धरण कारित शातिनाथ जिनालय[1] का उल्लेख है । यह प्रतिष्ठा स० १२५८ म हुई थी । इसलिए इसका रचनाकाल भी इसी के आसपास का है और उसका रचयिता खरतरगच्छ का कोई विद्वान ही है । प्रारभ मे दो पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा रहे है—

---

[1] देखें—जैन सत्यप्रकाश मे प्रकाशित मेरा लेख ।

पणमु भरह नरिंदो जिणवइ सोलसमो।
सति सुहवर कंदो, पणमिय पयडियनउ ॥
चरिउ किंपि पभणउ, तसु नाहह,
गुरु चूडामणि भुविय पायह।
त निसुणतह भवियह सवणिह,
भरियहिं अमिय रसायण म घणिउ ॥१
खेड नयरि जो सति उद्धरणि कराव्यु।
विहि समुदय मसुभत्ति जिणवइ सूरि ठावियु ॥ २

खेड नगर जोधपुर राज्य में है अत यह रचना राजस्थान में ही लिखी गई, निश्चित है। जिन जिनपतिसूरि ने अपने उपरोक्त खेड नगर मे शाँति-जिनालय मे प्रतिष्ठा की थी उन्ही के पट्टधर जिनेश्वरसूरि रचित 'महावीर जन्माभिषेक, श्री वासुपूज्य बोलिका, चर्चरी पद्य ३०, शाँतिनाथ बोली' आदि प्राप्त हैं। 'महावीर जन्माभिषेक' १४ पद्यो की सुन्दर कृति है जिसमे भगवान महावीर के जन्माभिषेक का वर्णन है। तिलोत्तमा आदि अप्सराओ के नृत्य-गान सबधी ३ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

वर रभ तिलुत्तम अच्छराउ, नच्चति भत्ति भर निब्भराउ।
गायति तार हारुज्जलाइ, तुह चरियइ जिणवर निम्मलाइ ॥ ८
वज्जति ढक्क टवक्क बुक्क, कसाल ताल तिलि माह डुक्क।
उप्पित इत सुरवर विमाण, नह मडलि दीसहि पवर जाण ॥ ६
जय जय रवु केवि करति देव, जोडिय कर सपुड करहि सेव।
किवि अट्ठ अट्ठ वर मगलाइ, तुह पुरउ करहि कय मगलाइ ॥ १०

२ जिनपतिसूरिजी के अन्य एक विद्वान शिष्य सुमति गणि रचित 'नेमि-रास' उपलब्ध हुआ है जो ५७ पद्यो का है। सुमति गणि की दीक्षा स० १२६७ मे हुई थी और उनकी विद्वतापूर्ण कृति गणधर सार्धशतक बृहद्वृत्ति की रचना स० १२६५ मे हुई। इसलिए प्रस्तुत रास की रचना भी इसी बीच मे हुई है। इसमे बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। विषय-सुखो के सबध मे कहा गया है—

विसय सुक्खु कहि नरय दुवारु, कहि अनत सुहु सजम भारु।
भलउ बुरउ जाणत विचारइ, कगिणि कारणि कोडि कुहारइ ॥ ३८
पुणवि भणइ हरि गाढु करेवि, नेमि कुमारह पइ लगेवि।
सामिय इक्कु पसाउ करिज्जउ, बालिय कावि सरुव परिणिज्जउ।

प्रस्तुत रास 'हिन्दी-अनुशीलन' वर्ष ७, अक १ मे प्रकाशित किया जा चुका है।

अपभ्रंश भाषा में सबसे प्राचीन बारहमासा जिनधर्मसूरि कृत 'बारह-नावउ' भी १३ वी शताब्दी की रचना है जो पाहण भंडार की ताड़पत्रीय प्रति से नवल कर के, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अक ४ में प्रकाशित किया है। सं० १४२५ के आसपास वाली प्रति मे पांरहण कवि रचित 'नेमिनाथ बारह-मासा' है। आबू रास के ५३ वें पद्य के अन्त में 'पाल्हण' नाम आता है। अत. सभव है दोनो रचनाएँ एक ही कवि की हो। इस स्थिति मे इस बारहमासा का रचनाकाल सं० १२८९ के आसपास का निश्चित होता है। श्रावण मास के वर्णन वाला पद्य नीचे दिया जा रहा है—

> सावणि सघण घुडुक्कइ मेहो, पावसि पत्तउ नेमि विछोहो।
> दद्दर मोर लवहिं असंगाह, दह दिह बीजु खिवइ चउवाह॥
> कोइल महुर वयणु चवए खइ, विवीहउ धाह करेई।
> सावणु नेमि जिणिंद विणू, भणइ कुमरि किम गमणउ जाए॥ २

यह बारहमासा १६ पद्यो का है। पहले एव १५ वें पद्य मे कवि का नाम आता है। उन दोनों पद्यो को नीचे उद्धृत किया जाता है—

> कासमीर मुख मडण देवी, वाएसरि पाल्हणु पणमेवी।
> पदमावतिय चक्केसरि नमिउ, अविक देवी हउ वीनवउ॥
> चरिउ पयासउ नेमि जिण केरउ, कवितु गुण धम्म निवासो।
> जिम राइमइ विओगु भओ, 'बारहमास' पयासउ रासो॥ १
> जो जादवकुल मडप सारो, जिणि तिणि चडि परिहरिउ ससारो।
> कुमरि तजिय तपुलउ गिरनारे, सिधि परिणउ गउ मोख दुवारे॥
> जणु परिमलु पाल्हणु भणए, तसु पय मणुदिण भत्ति करेहु।
> मण वंछिउ फलु पाविजए, धुय सम सरिसु वयणु फुडु एहु॥ १५
> इणि परि भणिया बारसमासा' पढत सुणंतह पूजउ आसा।
> रायमइ नेमिकुमर वहु चरिउ, सखे विण कवि इणि परि कहिउ।
> अविक देवि सासण देवि माई, सघ सानिधु करिजउ समुदाई॥ १६

जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्रावक जगड् रचित 'सम्यक्तव माई चौपई' ६४ पद्यो की प्राचीन गुर्जरगौड सग्रह मे प्रकाशित है। यह चौपई छद में है। इसी तरह दोहा छद मे रुद्रपल्लियगच्छ के अभयसूरि के शिष्य पृथ्वीचन्द्र कवि ने 'मातृका प्रथमाक्षरदोहका' नामक ५८ दोहो की रचना 'रस-विलास' के नाम

आदि—अप्पइ अप्पयउ बुज्झिर, जो परप्पइ सीणु ।
सुज्जि देव अम्हह सरणु, भवसायर पारीणु ॥ १
माई अवसर धुरि धरिवि, वर दूहय छदेण ।
'रस विलास' आरभियउ, सुयवि पुहवि चन्देण ॥ २

अत—रद्दपल्लिगच्छह तिलय, अभयसूरि सीसेण ।
'रस विलासु' निप्पाइयउ, पाइय पयरसएण ॥ ५७
'पुहविचद' कवि निम्मविय, पढि दूहा चउपन्न ।
तसु असु सारिहि ववहरहि, पसरइ नित्ति सान्न ॥ ५८

जिनपतिसूरिजी के शिष्य वीरप्रभ का समय १३ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। उनका रचित चद्रप्रभ-कलश' प्राप्त हुआ है। उपरोक्त कई रचनाओ की भाँति इनकी भाषा भी अपभ्र श-प्रधान है। इसमे आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जन्माभिषेक का वर्णन है। बीच के तीन पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

घाए मदार मालहि पहु अच्चए, पुर्णहि कप्पूर हरि चदणह चच्चए ।
सिद्ध गधव्व गायति किन्नरवरा, रभ पमुहाउ नच्चति तहि अच्छरा ॥ १३
केवि उप्फलहि गयणगिस हुल्लुप्फना केवि हरिसेण गज्जति जिमवयगला ।
अट्ठ मगल्ल किवि लिहहि विवि चामरा, पहु उभय पासि ढलति तित्यामरा ॥ १४
सख वहुसख पडु पडह झल्लरि महा, ढक्क टवक्क बुक्काहु ढुक्का तहा ।
ताल कसाल मद्दल तिनिम काहला, केवि वायति कह हरिस कोलाहना ॥ १५

१३ वी शताब्दी की कतिपय रचनाओ का विवरण ऊपर दिया गया है। इनमे कुछ की भाषा अपभ्र श ही है, कुछ अपभ्र श प्रभावित राजस्थानी और कुछ बोलचाल की राजस्थानी की रचनाएँ हैं। रचनाएँ विविध प्रकार की हैं। अपभ्र श से उनकी परम्परा जा मिलती है और परवर्ती रचनाओ पर तो इनका प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। कुछ रचनाएँ राजस्थान म, तो कुछ गुजरात मे रची गई हैं। पर दोनो स्थानो म रची गई रचनाओ मे भाषा का कुछ अन्तर नही है। ४ पद्यो की छोटी सी रचना से लेकर २०५ पद्यो तक की रचनाएँ इनमे हैं। कुछ रास हैं तो कुछ चौपाई, धवल, गीत, मातृकाक्षर, बावनी, जन्माभिषेक, कलश, बोली आदि विविध नामो वाली रचनाएँ इस समय की प्राप्त हैं। कुछ रचनाएँ और भी मिली हैं पर उनका समय निश्चित नही किया जा सका है। ये सभी रचनाएँ श्वेताम्बर सप्रदाय के कवियो की हैं। दिगबर सप्रदाय मे भी इस समय (११ वीं से १३ वी शताब्दी) तक अपभ्र श मे काफी रचनाएँ रची गई। उनमे कई तो बडे-बड काव्य हैं। इस काल की कोई गद्य रचना प्राप्त नही हुई है।

१४वी शताब्दी म भी पूर्ववर्ती रचना-प्रकारो की परम्परा बराबर चालू रही है। कई रास, चौपई, मातृका, चर्चरिका आदि रचनाएँ रची गई हैं। उनका यहाँ सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

स० १३०७ मे भीमपल्ली (भीलडिया) के महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा के समय अभयतिलक गणि ने २१ पद्यो का 'महावीर रास' बनाया। प्रतिष्ठा-महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि मडलिक राजा के आदेश से श्रावक भुवनपाल ने महावीर जिनालय को स्वर्णमय दडकलश से विभूषित कर प्रतिष्ठा करवाई, यथा—

तसु उवरि भवणु उत्तग वर तोरण, मडलिय राय आएसि अइ सोहण।
साहुणा भुवणपालेण काराविय, जगधरह साहु कुलि कलस चाडाविय॥ ६
हेम घयदड कलसो तहिं कारिउ, पहु जिणेसर सुगुरु पासि पयठाविउ।
विक्कमे वरिस तेरहइ सतुत्तरे (१३०७) सेय वयसाह् दसमीई सुहवासरे॥ ७
इह महे दिसो दिस सघ मिलिया घणा, दसण घण एहिं वरिसत जिम्व नवघणा।
ठाणि ठाणे पणच्चति तरुणी जणा, कणि रमणि नेउरा राव रजिय जणा॥ ८
घर घरे वद्ध नव वदणय मालिया, उब्भविय गुड्डिया चउक परिपूरिया।
आदरिण सघु सयलोवि सपूइओ, सच्च दरिसण नयर लोगु सम्माणिओ॥ ६
रगि खिल्लति तहि खेलया, महुरसरि गीउ गायति वर बालया।
सोलणो दडनायगु वरो हरसिओ, वीर भवणेण पूरिय पयघो हुउ॥ १०

उपरोक्त अभयतिलक के गुरुभ्राता (खरतरगच्छाचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य) लक्ष्मीतिलक उपाध्याय बडे अच्छे विद्वान हो गए हैं जिन्होंने स० १३११ पालणपुर मे १०१३० श्लोक परिमित प्रत्येक बुद्ध-चरित्र नामक महाकाव्य बनाया एव १३१७ जालोर मे श्रावक धर्म प्रकरण वृहत् वृत्ति १५१३१ श्लोक परिमित बनाई। इनके रचित 'शांतिनाथ देवरास' नामक राजस्थानी काव्य (६० पद्यो का) हमारे सग्रह की (स० १४६३ लि) प्रति म है। उसमें ४४ पद्यो तक तो १६वें तीर्थंकर शातिनाथ का चरित्र सक्षेप में दिया है। उसके बाद खड नगर मे उद्धरणकारित शाति जिनालय की प्रतिष्ठा स० १२५८ म जिनपतिसूरिजी ने की और स० १३१३ मे जालोर मे उदयसिंह के राज्य म शाति जिनालय की प्रतिष्ठा जिनेश्वरसूरि ने की, उसका ऐतिहासिक उल्लख है। इस रास की रचना स० १३१३ के आसपास ही हुई है। यह रास सभवत जालोर के शातिनाथ जिनालय म खेला भी गया था। दोनो प्रतिष्ठाओ सबधी ऐतिहासिक गद्य और अतिम ३-४ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

तसु पडिम गुरु महिम निरुपडिम रयवा।
सांपटिहि नयरिग लाउ उद्धरिणि कारिया।
खेडि जिणाय सूरि पासि पयठाविया।
तहिंजि परि दिवसि सवि उच्छवा रागया ॥ ४५
विक्रमे वच्छरे बारहट्ठावने (१२५८) महु बहुत पनमी दिवस
करि सोवने सोभनदनराय कारिय पयट्ठविहि।
अप्पणा मक्ति हो ऊण गुर महा निही ॥ ४६
धम्म पुरनट्टपुर किनु गीयह पुर किं न रासाण पुर किनु चच्चर पुर।
किंतु विहि सघ पुर विनुदाणह पुर तहिं महे रा रिय प्रेम खेडप्पुर ॥ ४७
जात उरि उदयसिह रज्जि सोवनगिरि, उवरिसठे सति ठाविं उजिणेसर।
सुरी पवर पासाय मभमि सवच्छरे फागुणसिय चउत्थि तेरहइ तेरुत्तरे (१३१३) ॥ ४८
जे सतीसरबारि परिनच्चहि गायहि विविह।
ताह होउ सविवार, सेला खेली खेम कुसल ॥ ५७
एहु रासु जे दिति सेला खेली भइ कुसल।
बभ सति तह सति, मेघनादु विखेतल करउ ॥ ५८
एहु रासु बहु भासु "लच्छितिलय" गिणि निम्मयउ।
ते लहुति सिववासु, जे नियमणि ऊलटि दियहि ॥ ५९
महि कामिणि रवि इदु कुंडल जुयलिण जा महइ।
ताम सति जिण चद अणुइय रासुविचिरुजयउ। ६०

राजस्थान मे खरतरगच्छ का प्रभाव ११ वी शताब्दी से ही उतरोत्तर बढता चला गया और तपागच्छ का प्रभाव गुजरात मे। १२ वी से १३ वी शताब्दी तक और भी कई गच्छो का राजस्थान मे अच्छा प्रभाव था। कई आचार्य राजमान्य थे। उनमे से 'धर्मसूरि' साकम्भरि के चौहान राजाओं से सम्मानित हुए हैं। उनकी सबधित कई रचनाओ का विवरण पाटण जैन भडार सूची में छपा है। धर्मसूरि के शिष्य आणदसूरि और उनके शिष्य अमरप्रभ-सूरि रचित द्वादश भाषा (ढाल) 'निबद्धतीर्थमाल स्तवन' नामक ३६ पद्यो का एक स्तवन मिला है जो स० १३२३ मे रचा गया। उसमें पहले ३ ढालो तक तो शाश्वत जिनालयो का विवरण है। चौथी से ७ वी ढाल तक में अनेक जैन तीर्थस्थानो के नाम दिए हैं। फिर और भी जहाँ कही जैन मदिर हो, ३ भवन के जिनालयो को नमस्कार करके १० वी ढाल मे कवि ने अपनी गुरु परम्परा और रचना-समय का उल्लेख किया है। जैन तीर्थों सबधी चैत्य परिपाटी और तीर्थमालाओ का निर्माण १४ वी शताब्दी से अधिक होने लगता है। प्राकृत, सस्कृत में तीर्थों सम्बन्धी स्तोत्र, कल्प आदि मिलते ही है पर राजस्थानी

भाषाओं में १४वीं शताब्दी से तीर्थमालाओं और चैत्य परिपाटियों की परंपरा प्रारम्भ होकर क्रमश. उसकी रचनाओं की संख्या बढ़ती ही गई है। यहाँ प्रस्तुत तीर्थमाला के अंतिम ४ पद्य दिए जा रहे हैं—

दसमी भाषा

नवि मागउ सुर रिद्धि, सुर नर खयर रज्जु नवि।
इक तुम्ह पय सेव, मागउ सामिय भविहि भवि॥ ३३
सायभरि नर राय, पणय पाय धम्मसूरि गुरो।
तसु पटि उदय गिरिंद, आणद सूरि गुरु दिवस यरो॥ ३४
अमरप्रभ सूरि नामु तासु सीसि सथव रयउ।
तेरह तेवीसमि (१३२३) सिरिचदुज्ज्वल जसु दियओ॥ ३५

एकादशी भाषा

सिवसिरि मणिमाला वन्निया 'तित्थमाला',
बव गय भव जाला क्त्ति किसी विसाला।
सिव सुह फल रवख देइ तत्त परक्ख,
निहणउ भव-दुक्ख वछिय होउ सुक्ख॥ ३६

इसी तरह बारह भाषा या ढालों म 'समरारास' रचा गया है जिसका परिचय आगे दिया जायगा। स० १३३२ में खरतरगच्छ के जिनप्रबोधसूरिजी ने मुनि राजतिलक को वाचनाचार्य पद दिया था। उनके रचित शालिभद्ररास ३५ पद्यो का प्राप्त हुआ है। इसमें राजगृही के समृद्धिशाली सेठ शालिभद्र का चरित्र वर्णित है। शालिभद्र जैसा जबरदस्त भोगी था, वैसा ही योगी भी बना। उसने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर कठोर तप किया। 'जैनयुग' वर्ष २, पृष्ठ ३७० मे यह रास प्रकाशित हो चुका है। आदि अत के ३ पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

आदि—पभणपुरि पहु पास-नाह, पणमेविणु भत्तिए,
सयल सभो हिम रिद्धि विद्धि, सिभइ जसु सत्तिए।
हुउ पभणि सिरि सालिभद, मुणि-तिलयह रासू,
भवियनि– सुणिहु जे तुम्ह, हुइ सिवपुरि वासू॥ १

अन्त —राजतिलक गणि सथुणइ, वीर जिणेसर गोयम गणिहरु।
सालिभद्द तहि धम्मउ मुणिवरु, सयल सघ दुरियइ हरउं॥ ३४
सालिभद्द मुणिवर रासू, जे निय उल्लासय खेलादित्तो।
तेसि सासण देवी, जणयउ सिव सती॥ ३५

स० १३३१ मे जिनेश्वरसूरिजी का स्वर्गवास हुआ। उनके दीक्षा प्रसग का वहा

हो सुन्दर वर्णन कवि सोममूर्ति ने 'जिनेश्वरसूरि संयमश्री. विवाह वर्णन रास' मे किया है। ३३ पद्यो का यह रास हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह' मे प्रकाशित हो चुका है। दीक्षा को सयमश्री नाम देकर उसके साथ जिनेश्वर-सूरिजी के विवाह का आध्यात्मिक रूपक उद्भावित करके कवि अम्बडकुमार (जिनेश्वरसूरि का बाल्यावस्था का नाम) द्वारा माता को कहलाता है कि मैं सयमश्री के साथ विवाह करूँगा। माता, मेरा उसी के साथ विवाह करवाओ ! फिर बरात प्रस्थान करती है और खेड नगर मे जाकर दीक्षा रूपी विवाह होता है, उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

'अंबडु' पभणइ माइ सुणि, परिणिसु सजम लच्छि।
इक्कुजुए पुहविहि सलहियइ, जायउ 'लखमिणि' कुच्छि ।। १५
अभिनव ए चालिय जानउत्र, 'अंबडु' तणइ वीवाहि।
अप्पुणु ए धम्मह चक्कवइ, हूयउ जानह माहि ।। १६
आवहि आवहि रग भरि, पच-महव्वय राय।
गायहि गायहि महुर नरि, अट्ठय पवय माय ।। १७
अठार सहसह रहवरह, जोत्रिय तहि सीलग।
चालहि चालहि सति सुह देगिहि चग तुरग ।। १८
नारद नारद 'नेमिचदु' 'भडारिउ' उच्छाहु।
वाधइ वाधइ जान देखि, 'लखमिणि' हरपु अथाहु ।। १९
कुसलिहि खेमिहि जानउत्र, पहुतिय 'खेड' मज्झारि।
उच्छवु हूयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि ।। २०
'जिणवइ' सूरिण मुणि पवरो, देसण अमिय रसेण।
वारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ।। २१
'सति जिणेसर' वर भुवणि, माडिउ नदि सुवेहि।
वरिसहि भविय दाण जलि, जिम गयणगणि मेह ।। २२
तहि अगयारिय नीपजइ, झाणानलि पजलति।
तउ सवेगहि निम्मियउ, हथलेवउ सुमहुत्ति ।। २३
इणि परि 'अंबडु' वर कुयर, परिणइ सजम नारि।
वा जइ नदीय तूर घण, गूडिय घर घर बारि ।। २४

इसी सोममूर्ति कवि के रचित 'जिन प्रबोधसूरि चर्चरी' नामक १६ पद्यो की रचना मिली है। चर्चरी-सज्ञक रचनाएँ थोडी सी ही मिली हैं। इसमें जिन-प्रबोधसूरि का आचार्य पद - स्थापन का उल्लेख है। अत यह भी स० १३३२ के लगभग की रचना है। आदि-अत का एक-एक पद्य इस प्रकार है—

आदि —विजयउ विजयउ कोडि जुग, जिणप्रबोधसूरि राउ।
विप्फुरतवर सूरि गुण, रयण अलकिय काउ ।। १

अन्त —जिणप्रबोधसूरि गुरुतणिय, जे चाचरि पभणंति ।
'सोममुत्ति' गणि इम भणइ, पुण्य लच्छिति लहंति ॥ १६

इन सोममूर्ति की 'गुरावली रेलुआ' और 'जिनप्रबोधसूरि बोलिका' नामक १३ और १२ पद्यो की और रचनाएँ मिली हैं।

रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्रसूरि भी अच्छे विद्वान एव कवि थे। स० १३३८ मे उन्होंने 'बारहव्रत रास' ५३ पद्यो का बनाया जो जैनयुग मे छप चुका है। इनकी रचित 'आणद प्रथमोपासक सधि' नामक रचना भी प्राप्त है। धर्मदास गणि के प्राकृत उपदेशमाला के आधार से 'उवएसमाल कहाणय छप्पय' नामक ८१ छप्पय छदो की रचना प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे प्रकाशित हुई है वह रत्नसेनसूरि के शिष्य उदयधर्म की रचना है, अत वे विनयचदसूरि के गुरु-भ्राता होगे। विनयचद्रसूरि रचित 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे छपी थी। उसमे नेमिराजुल के बारहमासा का सुन्दर वर्णन चौपई छन्द मे है। ४० पद्यो का यह प्राचीन बारहमासा है जो श्रावण से आरम्भ होकर आसाढ मास तक म होने वाले राजुल के मनोभावो एव प्रकृति का चित्रण है। श्रावण और चैत्र वर्णन का एक-एक पद्य उदाहरण के रूप मे दिया जा रहा है।

श्रावणि सरवणि कडुय मेहु गज्जइ, विरहि रि ! झिज्झई देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु सहि ! सहियइ केम॥ २
चैत्रमासि वणसइ पगुरइ वणि वणि कोयल टहका करइ।
पचबाण करि धनुष धरेवि वेझइ माडी राजल-देवि॥ २६

स० १३२७ मे रचित 'सप्तक्षेत्रीरास' (११६ पद्यो का) प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे प्रकाशित हुआ है। उसमें रचयिता का नाम स्पष्ट नही है। जैन-धर्म मे साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, जिन-मदिर, मूर्ति और ज्ञान ये ७ धार्मिक क्षेत्र माने जाते हैं। इनका वर्णन इस रास में है। जिन-पूजा के प्रसग से इस मे आभूषणो, फूलो आदि का अच्छा वर्णन है। उस समय जिन-मदिर मे जो ताला (तालबद्ध) रास और लकुटी (डडिया) रास खेले जाते थे उसका भी बहुत अच्छा विवरण इसमे मिलता है। यहाँ उसी सम्बन्ध के ३ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

बइसइ सहूइ श्रमणसघ, सावय गुणवता।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि, मनि हरष धरता।
तीछे तालारास पडइ, बहु भाट पढता।
अनइ लकुटा रास जोईई, खेला नाचता॥ ४८

सविहु सरीषा सिणगार, सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रग भरे, तउ भावइ रूहा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता।
तालमानु छदगीत, मेलु वाजित्र वाजंता॥ ४६

तिविला भालरि भेरु, करडि कसाला वाजइं।
पनशब्द मगलीयहेतु जिण भुवणइ छाजइ।
पनशब्द वाजति भाटु, अवर वहिरती।
इण परि उच्छवु जिण भुवणि, श्री रासु करंतउ॥ ५०

सं० १३४१ मे रचित 'स्तभतीर्थ अजित स्तवन' नामक २५ पद्यों का (स्तवन) हमारे सग्रह में है।

स० १३४१ मे ही जिनप्रबोधसूरि के पट्ट पर जिनचंद्रसूरि स्थापित हुए। उनके सम्बन्ध में हेमभूषण मणि रचित 'युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि चर्चरी' नामक २५ पद्यों की रचना मिली है और श्रावक लक्खमसिंह ने 'जिनचंद्रसूरि-वर्णनारास' ४७ पद्यो का बनाया है। इसमे उक्त सूरिजी के जन्म, दीक्षा, पदोत्सव एव प्रतिष्ठा करानेका वर्णन है। अंत में कवि ने उनकी गुरु-परम्परा भी देदी है। रास के प्रारम्भ और अंत के दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

आदि —पास जिणेसर वीतराहु, पणमे विणु भत्ति
कर जोडवि सुय देवि नमिवि, वारउ विन्नती।
चरिउ रइसु गणि रायहसु, पहु जिणचदसूरि
नचहु भवियहु भावसारु, गय कलिमलु दूरि॥ १

अन्तः—जुग पहाण पहु जिणचदसूरि,
पयट्ठउ निय पयाव जसु पूरि।
"लक्खम सीहु" वन्नवइ असधारि,
अम्ह हिव दुग्गइ गमणु निवारि॥ ४७

जिनचन्द्रसूरिजी सबधी चतुष्पदी आदि और भी कई रचनाएँ मिलती हैं पर उनमे रचयिता का नाम नही है। 'जिनचन्द्रसूरि फागु' नामक २५ पद्यो की एक रचना मिली है, जिसके बीच का भाग त्रुटित है। फागु काव्यों में यह सबसे पहली रचना है। मोद-मन्दिर नामक खरतरगच्छीय कवि की 'चतुर्विशति जिन चतुष्पदिका' नामक २७ चौपइ छन्द की रचना प्राप्त है। उनकी दीक्षा स० १३१० में हुई थी। अज्ञात-नाम कवियो की अनेक रचनाएँ १४ वी शताब्दी की प्राप्त हुई हैं पर उनमे रचनाकाल और कवि का नाम नही है। ऊपर जिन रचनाओ का परिचय दिया गया है वे १४ वी शती के पूर्वार्द्ध

की रचनाएँ हैं अब उत्तरार्द्ध की कतिपय रचनाओ का परिचय दिया जा रहा है।

स० १३६३ में प्रज्ञातिलक के समय मे रचित कच्छुली रास, प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में प्रकाशित हुआ है। यह एक ऐतिहासिक रास है। कोरटा, जो जोधपुर राज्य मे है, मे इसकी रचना हुई है—

तेर निसठह (१३६३), रासु कोरिटावडि निम्मिउ।
जिणहरि दित सुणत मणवछिय सवि पूरउ॥

स० १३६८ मे श्रावक कवि वस्तिभ रचित 'वीस विरहमान रास' जैन गुर्जर कवियो, भाग ५ में छप चुका है और स० १३७१ में गुणाकरसूरि रचित 'श्रावकविधिरास' भी 'आत्मानद शताब्दी-स्मारक-ग्रथ' मे छप चुका है। स० १३७१ मे ही समराशाह ने 'शत्रुजयतीर्थ' का उद्धार किया था, उसके सबध म अबदेवसूरि रचित 'समरारास' प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह में प्रकाशित हुआ है। यह ऐतिहासिक, भौगोलिक एव साहित्यिक दोनो दृष्टियो से बडा महत्व-पूर्ण है। सघ यात्रा और वसत-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

मादलवस विणा झुणि वज्जए। गुहिर भेरीय रवि अवरो गज्जए।
नवय पाटणि नवउ रगु अवतारिउ। सुखिहि देवालउ सखारी सचारिउ॥ ६

घरि वयसवि करि के वि समाहिया।
समर गुणि रजिउ विरलउ रहियउ।
जयतु कान्हु दुइ सघपति चालिया।
हरिपालो लहुको महाधर दृढ थिया॥ ७

पाठी भाषा—वाजिय सख असख नादि काहिल दुड दुडिया।
घोड चडइ सल्लारसार, राउत सी
तउ देवालउ जात्रि वेगि, घाघरिखु झमवइ।
सम विसम नवि गणइ कोइ, नवि वारिउ थक्कइ॥ १

सिजवाला घर धडहडइ, वाहिणि वहुवेगि।
धरणि धडक्कइ रजु ऊडए नवि सूझइ मागो।
हय हीसइ आरमइ करह, वगि वहइ वइल्ल।
साद किया थाहरइ अवर, नवि देई वुल्ल॥ २

दशमी भाषा—रितु अवतरियउ तहि जि वसतो,
सुरहि कुसुम परिमल पूरंतो, समरह वाजिय विजय ढक्क।
सागु तेल सल्लइ सच्छाया,
वसूयकुइय कयम निकाया, सघलेनु गिरिनाहइ वहए।

वातीय पूयइं तरवर नाम,
वाटइ आवइ नव नव गाम, नयनी भरण माउलइं ॥ १

सं० १३७७ में जिनकुशलसूरि का पट्टाभिषेक हुआ। उसका वर्णन 'धर्म-कलश' मुनि ने ३८ पद्यों में किया है। यह 'जिनकुशलसूरि-पट्टाभिषेक रास' हमारे सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पद-महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

घरि घरि ए मंगलचार, पुन्न कलस घर घरि ठविय।
घरि घरि ए वदरवाल, घरि घरि गूडी ऊभविय ।। २६
वज्जिय ए तूर गंभीर, श्रवरु वहिरिउ पडिरवरण।
नाचहि ए अवलिय बाल, रंजीय गुर धवला सेहि ॥ २७
असहिलि ए पुर मझारि, नर नारी जोवरण मिलिय।
किसउ तु तेजउ साहु, जसु एवडउ उच्छव रलिय ।। २८
घात:—धवल मंगल धवल मगल, कलय लाये।
वज्जत घरण तूर वर, महुर सदि नच्चइ पुरमिय।
वसुधारहि धर सति नर, केवि मेहु जेम मनहि रजिय।
ठामि ठामि कल्लोल झुणि, महा महोछवु मोय।
जुगपहारण पयसंठवरिण, पूरिय भगरण लोय ॥ ३१

इसी समय में जिनप्रभसूरि नामक खरतरगच्छ के एक बहुत बड़े विद्वान शासन-प्रभावक आचार्य हो गए हैं जो स० १३८५ में मुहम्मद तुगलग बादशाह से दिल्ली मे मिले थे और वह इनकी विद्वत्ता से बड़े प्रभावित हुये थे। इन आचार्यश्री की रचित 'पद्मावती चौपई' ३७ पद्यो की प्राप्त है जो 'भैरव पद्मावती-कल्प' नामक ग्रंथ के परिशिष्ट नं० १० में प्रकाशित हो चुकी है। चौपई छंद मे पद्मावती देवी की स्तुति की गई है। पद्मावती देवी का महात्म्य-वर्णन करते हुए कवि कहता है—

वझ नारि तुह पय झायति, सुरकुमरोवम पुत्त लहति।
निद्रू नदरण जणइ चिराउ, दूहव पावइ वल्लह राउ ॥ ३३
चितिय फल चितामणि मति, तुज्झ पसायि फलइ नियतु।
तुम्ह अणुग्गह नर पिक्खेवि, सिज्झइ सोलह विज्जाएवि ॥ ३४
रूपकतिसोहागनिहारण, निव पूइयपय अमिलिय माण।
कवि वाईसर हुति ते धण्ण, जाह पउमि । तु होहि पसण्ण ॥ ३५
तुह गुण अत न केणवि मुणिय, तहवि तुज्झ मइ गुणलव थुणि
माण जु पालइ जिणसिंघ सूरि, तार्थं सय मण वछिय पूरि ॥

पउमावई चउपई पढत, होइ पुरिस तिहुयणसिरि कत ।
रम्भ भणइ नियजसकप्पूरि, सूरदीव भवण जिणप्पहसूरि ॥ ३७

जिनप्रभसूरिजी ने प्राकृत तथा सस्कृत में तो अनेको ग्रथ बनाए ही हैं पर कुछ फुटकर गीत पदस्तवन अपभ्रश और राजस्थानी मे भी बनाए हैं। स० १४२५ के आसपास की लिखी हुई जिस सग्रह-प्रति का पहले उल्लेख किया गया है उसमें जिनप्रभसूरिजी के तीर्थयात्रा का स्तवन और फुटकर गीत मिले हैं । साथ ही जिनप्रभसूरिजी के सम्बन्ध के भी ३ गीत मिले थे जो हमने 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-सग्रह' मे प्रकाशित कर दिए हैं। इनके पट्ट पर जिनदेव-सूरि स्थापित हुए। उनका भी एक गीत उनके साथ ही छप गया है। इस सग्रह-प्रति मे और भी अनेको महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण प्राप्त हुई हैं। कवि ल्हु की 'क्षेत्रपाल द्विपदिका', 'पहाडिया राग', 'प्रभातिक नामावलि' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

जिनकुशलसूरिजी के पट्ट पर जिन पद्मसूरिजी की पदस्थापना स० १३६० में हुइ। उनका 'पट्टाभिषेकरास' कवि सारमूर्ति ने २६ पद्यो का बनाया जो हमारे 'ऐतिहासिक-जैन-काव्य' मे छप चुका है। इन जिनपद्मसूरि रचित 'स्थूलिभद्र फाग' प्राचीन गुर्जर काव्य मे छप चुका है जो २७ पद्यो की एक सुन्दर रचना है। वर्षा-वर्णन सबधी कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए, मेहा वरसति ।
खलहल खलहल खलहल ए, वाहला वहंति ।
झबझब झबझब झबझब ए, वीजुलिय झबकइ ।
थरथर थरथर थरथर ए, विरहिणि मणु कपइ ॥
महुरगभीरसरेण मेह, जिम जिम गाजते ।
पचबाण निय कुसुमबाण, तिम तिम साजते ।
जिम जिम केतकि महमहत, परिमल विहसावइ ।
तिम तिम कामिय चरण लगि, नियरमणि मनावइ ॥ ७
सीयल कोमल सुरहि वाय, जिम जिम वायते ।
माणमडप्फर माणणि य, तिम तिम नाचते ।
जिम जिम जलभर भरिय मेह, गयणगणि मिलिया ।
तिम तिम कामीतणा नयण, नीरिहि झलहलिया ॥ ८
भास—मेहारवभर ऊलटिय, जिम जिम नाचइ मोर ।
तिम तिम माणिणि खलभलइ, साहीता जिम चोर ॥ ६

पउम कवि रचित 'शालिभद्र काक' (धर्म-मातृका) प्राचीन गुर्जर काव्य छप चुके हैं और 'नेमिनाथ फागु' प्राचीन फागु सग्रह में छप चुका है। सोल

कृत 'चर्चरिका' और अज्ञात कवि रचित मातृका चौपई भी 'प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह' मे छपे हैं, सभवतः वे इसी शताब्दी की रचनाएँ हैं।

स० १४३७ मे लिखित 'स्वाध्याय पुस्तिका' की एक प्रति हमे जैसलमेर भडार मे प्राप्त हुई थी। उसमें अज्ञात कवियो के रचित कई कलश, थोली, कृपण नारी-सवाद, षटपद, जिनकुशलसूरि रेलुआ, सालिभद्र रेलुआ, गुरावली चौपई, जिनचद्रसूरि चतुष्पदी, वीरतिलक चतुष्पदिका, जिनप्रबोधसूरि चद्रायणा, धर्म-चरचरी, जिनेश्वरसूरि चद्रायणा, गुरावली रेलुआ तथा समधरु कृत नेमिनाथ फाग, चारित्रगणि कृत जिनचद्रसूरि रेलुआ आदि रचनाएं हैं। वे भी १४ वी शताब्दी की ही हैं। पर उन सबका परिचय देने से यह लेख बहुत बडा हो जाएगा, इसलिए नही दिया जा रहा है।

'केशी गौतम सधि' एवं जयशेखरसूरि रचित 'शीलसधि' आदि सधि-काव्य भी इसी शताब्दी से रचे जाने प्रारभ होते हैं और १७ वी शताब्दी तक वह परपरा जोरो से चली। उसका कुछ परिचय मैंने 'राजस्थानी' (निबधमाला) में प्रकाशित 'अपभ्रश भाषा के सन्धिकाव्य और उनकी परम्परा' शीर्षक लेख मे दिया है। इसी तरह विवाहला काव्य की परम्परा भी इसी शताब्दी मे प्रारभ होती है और १८ वी शताब्दी तक चलती रही। उसका विवरण मैं अपने 'विवाहला और मगल-काव्य की परम्परा' शीर्षक लेख मे दे चुका हूँ। फागुसज्ञक काव्यो की परम्परा भी इसी शताब्दी से प्रारम्भ होती है। उसका विवरण भी सम्मेलन पत्रिका' मे प्रकाशित कर चुका हूँ। उसके बाद फागु काव्यो का एक महत्वपूर्ण सग्रह मेरे मित्र डॉ० भोगीलालजी साडेसरा सम्पादित 'प्राचीन फागु' के नाम से महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा से छप चुका है। इसमे १४ वी शताब्दी से १८ वी शताब्दी तक के ३५ फागु काव्य हैं। इनके अतिरिक्त मुझे और भी फागु आदि काव्य मिले हैं जिनका विवरण फिर कभी प्रकाशित किया जाएगा।

धवल, उत्साह को प्रगट करने वाला एक मागलिक गीत विशेष है। स० १२७७ में रचित 'जिनपतिसूरि धवल गीत' से ऐसे 'धवल' काव्यो की परम्परा चालू होती है जो १७ वी शताब्दी तक चलती है। उनका परिचय मैं 'विहार थियेटर' मे प्रकाशित 'धवलसज्ञक जैन रचनाएँ' नामक लेख मे दे चुका हूँ।

रेलुआसज्ञक कुछ रचनाएँ १४ वी शताब्दी ही की मिली हैं। इसकी परम्परा आगे नही चली। प्राप्त रचनाओ का परिचय 'जैन-सत्य-प्रकाश' मे दिया जा चुका है। मातृकाक्षर क्रम से रचे हुए पद्यो की परम्परा 'बावनी' के नाम से

१३ वी शती से ही प्रारम्भ कर १६ वी शताब्दी तक चलती रही है। १४ वी शताब्दी मे रचित 'अम्बिका देवी पूर्व भव वर्णन तलहरा' नामक ३८ पद्यो की रचना 'हिन्दी अनुशीलन' म मैंने प्रकाशित की है। 'तलहरा' नाम वाली यह एक ही रचना मिली है। राजस्थानी भाषा क जैन रचना-प्रकारो के सम्बन्ध मे मेरा लेख ना० प्र० पत्रिका मे द्रष्टव्य है।

१५ वी शताब्दी मे राजस्थानी साहित्य में एक नया मोड आता है। इस शती की प्रारम्भ की कुछ रचनाओं मे अपभ्रश का प्रभाव अधिक है पर उत्तरार्द्ध की रचनाओ में भाषा काफी सरल पाई जाती है। इस शताब्दी की रचनाएँ विविध प्रकार की हैं। बडे-बड रास इसी शताब्दी से रचे जाने लगे। लोक-कथाओ को लेकर राजस्थानी भाषा में काव्य लिखे जाने का प्रारम्भ भी इसी शताब्दी मे हुआ। इस शताब्दी की सभी रचनाओ का परिचय यहा देना सम्भव नही, अत कुछ प्रमुख कवियो और रचनाओ का परिचय ही दिया जा रहा है।

मलधारी गच्छ के राजशेखरसूरि ने 'प्रबध कोश' नामक ग्रथ स० १४०५ मे बनाया। उनके रचित 'नेमिनाथ फागु', 'प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह' और 'प्राचीन फागु सग्रह' मे छपे हैं। इसमें राजीमती के शृगार का वर्णन कवि ने काफी विस्तार से किया है। यहाँ उनम से ३ पद्य दिए जा रहे हैं—

> अह सामल कोमल केशपास, किरि मोरकलाउ।
> अद्ध चद समु भालु मयणु पोसइ भडवाउ।
> वकुडियालीय भुंहडियह, भरि भुवणु भमाडइ।
> लाडी लोयण लहकुडलइ सुर सग्गह पाडइ॥ ८
> किरि सिसिबिंब कपोल कन्नहिं डोल फुरता।
> नासा वसा गरुडचचु, दाडिमफल दता।
> अहर पवाल तिरेह कठु राजलसर रूडउ।
> जाणु वीणु रणरणइ, जाणु कोइल टहकडलउ॥ ९
> रणझुणु ए रणझुणु ए रणझणु ए, कडि घघरियाली।
> रिमिझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए, पय नेउर जुयली।
> नहि आलत्तउ बावलउ स प्रमुखिंि। नि।
> अणहियाली रावमए, प्रिउ जोअइ मनरगि॥ २१

स० १४०६ में मेवाड के गाघाट नगर के पार्श्व जिनालय में 'हलराज' कवि ने स्थूलिभद्र फाग की रचना की। उस समय तक स्त्रियाँ मिल कर फाग खेलती थी और फागु काव्य गाये जाते थे, इसका कवि ने उल्लेख किया है—

वर तरणी मिति दियइ, रास एव पाठु गेनावइ ।
तस आगणि नवनिधि रमइ, सपति घरि आवइ ।।

स० १४१० म पूर्णिमागच्छ के शालिभद्रसूरि ने नादउद्री में देवचद्र के अनुरोध से 'पाच पाडव' रास बनाया जो बडौदा से प्रकाशित प्राचीन जैन रास सग्रह मे प्रकाशित हो चुका है। सालिसूरि का 'विराट-पर्व' भी उसीमे प्रकाशित है। स० १४१२ म खरतरगच्छ के उपाध्याय विनयप्रभ ने कार्तिक सुदि १ के दिन खभात में ४५ पद्यो का 'गौतम स्वामी' रास बनाया। इस रास ने बहुत अधिक प्रसिद्धि पाई। हजारो श्रावक इसका नित्य पाठ करते हैं और पच्चीसो पुस्तको मे यह छप चुका है। इसकी बीकानेर के बडे ज्ञान भडार मे स० १४३० की लिखी हुई एक प्रति प्राप्त हुई और उसकी नकल मैंने 'साहित्य' नामक पत्र में प्रकाशित करदी है। नमूने के तौर पर कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

जिम सहकारिहि कोयल टहकउ,
जिम कुसुमह वनि परिमल बहकउ,
जिम चदनि सोगध निधि ।
जिम गगाजलु लहरिहि लहकइ,
जिम कणयाचलु त जिहि भलकइ
तिम गोयम सोभाग निधि ।। ३८
जिम मानस सरि निवसइ हसा,
जिम सरवर सिरि कणय वतसा,
जिम महुयर राजीव वनि ।
जिम रयणायर रयणिहि विलसइ
जिम अबरि तारागण विकसइ
तिम गोयम गुण कलि रनि ।। ३६
पुनिम दिणि जिम ससिहर सोहइ,
सुरतरु महिमा जिम जगु मोहइ
पूरव दिशि जिम सहस करो ।
पचाननु जिम गिरिवरि राजइ,
नरवर घरि जिम मयगलु गाजइ,
तिम जिन सासनि मुनि पवरो । ४०

विनयप्रभ रचित 'तीर्थ माला' जैनमाला प्रकाश म हमने प्रकाशित की है—

जैन गुर्जर कवियो, भाग १ म स० १४१५ मे जिनोदयसूरि रचित त्रिविक्रम रास का उल्लेख है पर उसकी प्रति मेरे देखने मे नही आई।

मुनि ज्ञानकलश रचित 'जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास' ३७ पद्यो का हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह' मे छप चुका है। यह पद-महोत्सव स० १४१५ में हुआ था अत इस रास का रचनाकाल भी यही है। महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> इणि परि ए गुरु आएसि, सुहगुरु पाटिहि सठविउ।
> तिहुयणि ए मगलचार, जय जयकारु समुच्छलिउ॥
> वाजए नदिय तूर, मागण जण कलिखु करए।
> सीकरि ए तणइ भमालि नदि मडपु जण मणुहर ए॥
> नाचईए नयणि विसाल, चद वयणि मन रग भरे।
> नव रगिए रासु रमति, खेला खेलिय सुपरि परे॥
> घरि घरिए वन्दरवाल, गीतह मुणि रलियावणिय।
> तहि पुरिए हुयउ जसवाउ, खरतर रीति सुहावणिय॥

जिनविजयसूरि के श्रावक 'विद्धणु' ने स० १४२३ में 'ज्ञान पचमी चौपई' ५[illegible] पद्यो में बनाई। इस समय तक की प्राप्त राजस्थानी-जैन-रचनाओ मे यह स[illegible] से बडी है। सघ भडार पाटण में इसकी प्रति होने का जैन ग्रन्थो मे उल्ले[illegible] मिलता है। भाषा के उदाहरण के रूप में प्रारम्भ और अन्त का एक एक पद यहाँ दिया जा रहा है—

> आदि —जिणवर सासणि आछइ साइ, जसु न लाभइ अत अपाइ।
> पढहु गुणहु पूजहु निसुनेहु, सियपचमि फलु कहियउ एहु॥ १
>
> अन्त —इह सियपचमी तेमि, विरुणदो ससार महि।
> ते नर सिवपुर जाहि पढहि गुणहि जे सभरहि॥ ५४८

स० १४३२ मे जिनोदयसूरि का स्वर्गवास हुआ। उनके सम्बन्ध मे मेरुनदनगणि ने ४४ पद्यो का 'श्रीजिनोदयसूरि गच्छनायक विवाहलउ' की रचना की, जो हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह' में छप चुका है। यह छोटासा काव्य होने पर भी बहुत सुन्दर है। दीक्षा-कुमारी के साथ जिनोदयसूरि के विवाह के रूपक का वर्णन तो बहुत ही सुन्दर है। इसीलिए इसका नाम 'विवाहलउ' रखा गया है। भाषा का प्रवाह भी उल्लेखनीय है। प्रारम्भ के ३ पद्य उदाहरणस्वरूप दिए जा रहे हैं—

> सयल मण वछिय, काम कुम्भोवमं,
> पास पय-कमलु पणमेवि भत्ति।
> सुगुरु जिणउदयसूरि' करिसु वीवाहलउ, सहिय ऊमाहलउ मुझ चित्ति॥ १
> इक्कु अति जुगवर पवरु निवदिलपुर,

धुणिसु हुउ तेण गिय मइ बलेण।
सुरभि किरि वचण दुद्ध सक्कर घण,
सखु किरि भरीउ गगा जलेण॥ २

अत्थि 'गूजरधरा' सुन्दरी सुन्दरे,
उवरे रयण हारोवमाण।
लच्छि केलिहर नयरु 'पल्हणपुर'
सुरपुर जेम सिद्धाभिहाण॥ ३

इसी कवि के रचित 'जीरावल्ला पार्श्वनाथ फागु' स० १४३२ में रचित (३० पद्यो का) है जो प० लालचद भगवानदास गाधी के जीरावल्ला पार्श्व-नाथ सम्बन्धी पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। उपाध्याय मेरुनदन के और भी बहुत से सस्कृत स्तोत्र आदि मिले हैं। इस सम्बन्ध मे मेरा एक लेख 'वल्लभ विद्या-विहार' पत्रिका मे प्रकाशित हो चुका है। 'ज्ञान छप्पय', 'स्थूलिभद्र मुनि छदासि', 'जिणोदयसूरि छदासि', 'गौतम छदासि' आदि राजस्थानी भाषा की सुन्दर रचनाएँ हैं। स० १४२७ मे उदयकरण रचित 'कयलवाड पार्श्वस्तोत्र' और 'जीरावला फलवर्द्धि पार्श्व-स्तोत्र' प्राप्त हुए हैं। उदयकरणजी की और भी अनेको फुटकर रचनाएँ मिली हैं।

देवप्रभगणि रचित 'कुमारपाल रास' ४३ पद्यो का है और 'भारतीय विद्या' मे प्रकाशित हो चुका है।

स० १४४५ मे चाँप कवि ने भट्टारक देवसुन्दरसूरि रास' बनाया। इसमें उक्त सूरिजी का चरित्र सक्षेप मे ५५ पद्यो मे दिया गया है। यह अभी अप्रका-शित है। इसकी प्रतिलिपि हमारे सग्रह में है।

स० १४६७ मे लिखी हुई एक सग्रह पुस्तिका हमारे ग्रथालय म है जिसमें 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग' पुरुषोत्तम पच पडव फाग'[1] आदि अनेक फुटकर रचनाएँ हैं। इस शताब्दी के कई फागु काव्य 'प्राचीन फागु सग्रह' म प्रकाशित हो चुके हैं। स० १४५० के लगभग देवसुन्दरसूरि के शिष्य प० रत्नाकर ने काकबधि ...पई (घम्मक्तक) की रचना की, जो हमारे सग्रह मे है। स० १४५५ मे ...धुहस ने 'शालिभद्र रास' २२२ पद्यो में बनाया। उनकी रचित 'गौतम पृच्छा ...पई' ६८ पद्यो की है। वस्तिग या वस्तो कवि रचित 'चिहुगति चौपई' स०

---

[1] ये दोनो फाग 'प्राचीन फागु-सग्रह' मे प्रकाशित कर दिये गये हैं।

चुका है। गुणरत्नसूरि रचित 'ऋषभरास' एवं 'भरत बाहुबलि पवाडा' और सोमसुन्दरसूरि रचित 'नेमिनाथ नवरस फाग' 'स्थूलिभद्र कवित्त' (सं० १४८१) अज्ञात कवि रचित "पृथ्वीचद्र' 'गुणसागररास' रत्नमडनगणि कृत 'नेमिनाथ नवरस फाग' और 'नारी निरास फाग' माणक्यसुन्दरसूरि कृत 'नेमीश्वर चरित फाग वध' गाथा ६१, सर्वानन्दसूरि कृत 'मगल-कलश चौपइ' मडलिक रचित 'पेथड़रास' आदि रचनाएँ भी इसी शताब्दी की हैं। 'पेथडरास' प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे प्रकाशित है।

उपसहार—११ वी शताब्दी से १५ वी शताब्दी तक के काल को मैं राजस्थानी साहित्य का आदिकाल मानता हूँ और इसी बीच की पद्यबद्ध रचनाओ का परिचय ऊपर दिया गया है। जैनेतर फुटकर राजस्थानी पद्य भी ११ वी शताब्दी से ही मिलने लगते हैं। प्राचीन 'प्रबध-सग्रह' ग्रथो मे उद्धृत ऐसे पद्यो के सबध मे मेरा एक स्वतत्र लेख इसी ग्रक मे प्रकाशित हो रहा है। जैनेतर स्वतत्र रचनाएँ १५ वी शताब्दी से ही मिलने लगती हैं। गुजरात के विद्वानो ने उनके सबंध मे कुछ प्रकाश डाला है और 'हसाउली', 'वसत-विलास' आदि १५ वी शताब्दी की कुछ रचनाओ को प्रकाशित भी किया है। भीम कवि रचित सदयवत्सप्रबध' इसी शताब्दी का एक महत्वपूर्ण लोक काव्य है, जिसे डॉ० मजूलाल मजूमदार ने सपादित किया है और हमारे 'सादूंल राजस्थानी रिसर्च इस्टीट्यूट' से प्रकाशित हो रहा है। १६ वी शताब्दी से राजस्थानी और गुजराती भाषा का अन्तर अधिक स्पष्ट होने लगता है, इसलिए वहाँ से मध्य काल का प्रारम्भ माना जा सकता है। स्वामी नरोत्तमदासजी ने अपनी 'किसन रुकमणी री वेलि' की प्रस्तावना मे राजस्थानी साहित्य का प्राचीन काल स० ११५० से १५५० तक का माना है और डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे आरभ काल स० १०४५ से १४६० तक माना है। डा० जगदीशप्रसाद ने अपने 'डिंगल-साहित्य' ग्रथ मे राजस्थानी का प्राचीन काल १३०० ई० से १६५० ई० तक माना है जो ठीक नहीं है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी भाषा और साहित्य का प्राचीन काल स० १५०० तक का मान कर १५०० से १६५० तक के साहित्य पर शोध-प्रबध लिखा है।

गद्य—लय, छंद और स्मरण रखने की सुविधा—पद्य रचनाओ के अधिक रचे जाने के कारण है। पर साधारण व्यक्तियो के लिए पद्यो के भाव को समझना कठिन होता है इसलिए गद्य मे टीकाएँ एव स्वतत्र रचनाएँ रची जाती

१४६२ लिखी गई प्रति प्राप्त है, इसलिए उससे पहले की रचना है। इसक प्रतिलिपि भी हमारे संग्रह में है। इसी समय के लगभग जयशेखरसूरि अच्छे कवि हो गए हैं जो अचलगच्छ के थे। उनकी रचित 'त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध' नामक ४४८ पद्यों का रूपक काव्य बहुप्रशंसित है। उसके दो संस्करण निकल चुके हैं। इनके रचित 'नेमिनाथ फागु'[1] ५८ पद्यों का है। 'अर्बुदाचलवीनती' आदि फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं। समयप्रभगणि कृत 'जिनभद्रसूरि पट्टाभिषेकरास' ४५ पद्यों का हमारे संग्रह में है, जो सं० १४७५ का है।

पीपलगच्छ के हीरानंदसूरि भी अच्छे कवि थे। उन्होंने सं० १४८४ में 'वस्तुपाल तेजपालरास' १४८५ में 'विद्याविलास पवाडा' १४८६ में 'कलिकाल-रास' १४९५ में 'डावू स्वामि विवाहला' (साचोर में) रचे। अतः ये राजस्थान के कवि थे। 'दशार्णभद्ररास', 'स्थूलिभद्र बारहमासा' आदि आपकी और भी रचनाएँ प्राप्त हैं।

इसी समय खरतरगच्छ के जयसागर उपाध्याय बड़े विद्वान् हुए हैं। इनके भ्राता मंडलिक ने आबू का चतुर्मुख जिनालय बनाया। सं० १४८१ में 'जिन-कुशलसूरि चतुष्पदिका सप्ततिका' की रचना मलिक वाहणपुर सिंध प्रांत में की। वह हमारे 'दादा जिनकुशलसूरि' पुस्तक में प्रकाशित हो चुकी है। इसका संक्षिप्त संस्करण बहुत ही प्रसिद्ध है और गुरु-भक्तों द्वारा उसका पाठ किया जाता है। हमारे संग्रह में उनके रचित 'चैत्य परिपाटी' (सं० १४८७), 'वयर-स्वामिरास' (गाथा ३६, सं० १४८६, जूनागढ), 'अष्टापदबावनी', 'नेमिनाथ-विवाहला' गिरनार वीनती' आदि पच्चीसों रचनाएँ हैं। जयसागर उपाध्याय के संबंध में मेरा एक लेख शोध पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है। जिनकुशल-सूरि रचित 'पूर्व देश चैत्य परिपाटी' आदि अनेकों रचनाएँ इस संग्रह में हैं।

माडण नामक सेठ ने सं० १४९८ में 'सिद्धचक्र श्रीपालरास' २५८ पद्यों में बनाया। चंप कवि रचित 'नल-दमयंतीरास' भी सिद्धचक्ररास के साथ ही लिखा हुआ मिला है। सं० १४९९ में मेहा कवि ने 'राणकपुरस्तवन' और तीर्थमालास्तवन' बनाया। देवरत्नसूरि के शिष्य ने सं० १४९९ में 'देवरत्न-सूरि फागु' ६५ पद्यों में बनाया जो जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में छप

[1] बड़ौदा से प्रकाशित प्राचीन जैन साहित्य संग्रह में प्रकाशित।
[2] हिन्दी अनुशीलन में मैंने प्रकाशित कर दिया है।

विउ जिय सचित्तु पाणिउ तहिं आपहट्ठ नहिं इति नउवटवृक्षादिना हेठइ तहिं घाति उपरि ठवइ। अथवा जइ आपरउ न मपजड त चीगल माझि रावउ लणिउ वटादिपत्र नालु करि उपरि ठवइ ऊपरि पत्रादि छाया करइ पापती म्लारेवा विकरइ।

अम्हि जाणाउ वदइ तउ पइलउ वइद पासि पूछइ अथवा भणइ अम्ह अमु-कइ औषधि एउ रोगु उपसातउ।

वलियउ विहरेवा गियउ भणइ जइ हउ तइ देनउ तउ मुज्झु आपणी माता आपणउ पिता भाइउ वेटउ वहिन वेटी साभलइ इत्यादि। पश्चात् सबवे सत्तवो यथा– जउ हउ तुम्हि देस तउ मुझ आपणा सासू सुसरादिक साभलइ। माय पीय पुव्व सथव सासू सुसराइयाण पच्छाउ।

यह रचना कब की है और उसकी प्रति कब की लिखी हुई है इसके सबध में पाटण सूची-पत्र में कुछ उल्लेख नही है पर ताडपत्रीय प्रति होने से १४ वी शताब्दी का होना सभव है।

प्राचीन राजस्थानी गद्य की रचना, टीका और मौलिक दोनो प्रकार की मिलती हैं। इनमे सबसे अधिक उल्लेखनीय भाषा-टीका तरुणप्रभसूरि का 'षडावश्यक बालावबोध' है जो स० १४११ मे लिखा गया है। इस बालाव-बोध मे यथाप्रसग बहुत सी कथाएँ आती हैं। यद्यपि वे बहुत सक्षिप्त हैं, फिर भी उससे तत्कालीन बोलचाल की भाषा का भली भाति परिचय मिल जाता है। इसकी कुछ कथाएँ 'प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ' मे प्रकाशित की गई हैं और तरुणप्रभसूरि सबधी मेरा लेख शोध पत्रिका एव यू पी हिस्टोरीकल जनरल मे छपा है। उसमे अप्रकाशित एक कथा भी दी गई है।

बालावबोध नामक भाषा टीकाएँ इसके बाद अनेको रची गई हैं और सोम-सुन्दरसूरि कृत उपदेशमाला बालावबोध एव योगशास्त्र बालावबोध' की कुछ कथाएँ 'प्राचीन गुजराती गद्य सदभ' मे छपी हैं। एक अन्य विद्वान रचित 'उप-देशमाला बालावबोध' लदन से भी प्रकाशित हुआ है। उल्लेखनीय मौलिक गद्य रचनाओ मे स० १४७८ का 'पृथ्वीचद चरित्र' है जो माणिक्यसुन्दरसूरि ने स० १४७८ मे ५ उल्लासो मे 'वाग्विलास' के नाम से रचा है। इसमे तुकांत गद्य वर्णन बहुत ही सुन्दर है। ऐसी 'वाग्विलास' रचनाओ की परम्परा १८ वी शताब्दी तक चलती रही। सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा से 'वर्णक समुच्चय' नामक ग्रथ प्रकाशित हुआ है और मेरे सम्पादित 'सभा शृगार' आदि वर्णन सग्रह नागरी प्रचारिणी सभा से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

रही हैं। पद्य-रचना मौखिक रूप से भी लम्बे समय तक स्मरण रखी जा सकती है अतएव गद्य की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहती है और इसीलिए प्राचीन पद्यबद्ध रचनाएँ जितनी मिलती हैं उतनी प्राचीन और अधिक परिमाण मे गद्य रचनाएँ नही मिलती। राजस्थानी भाषा मे वैसे तो स० १३३० का लिखा हुआ गद्य भी मिलता है और उसके बाद की भी छोटी-छोटी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। 'प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह' और 'प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ' मे स० १३३० की लिखी हुई 'आराधना' १३३६ का 'बाल-शिक्षा ग्रथ' १३५८ का 'नवकार व्याख्यान', १३५६ का 'सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन' १३४० और १३६६ का लिखा हुआ 'अतिचार' छप चुका है। इनके अतिरिक्त 'तत्त्व विचार प्रकरण' और धनपाल कथा' नामक गद्य रचना हमे प्राप्त हुई थी जिसे हमने राजस्थान भारती में प्रकाशित कर दिया था। गुर्जरी, मालवी, पूर्विणी और मराठी इन चार नायिकाओ के मुख से कहलाया हुआ गद्य हमे एक प्राचीन प्रति मे प्राप्त हुआ था, जिसे राजस्थानी, भाग ३, अक ३, मे प्रकाशित किया जा चुका है। *पाटण के जैन-भडारो में कुछ महत्वपूर्ण अप्रकाशित गद्य रचनाएँ भी हैं जिनमें* से आहार-विशुद्धि सस्कृत एव लोक भाषा की उल्लेखनीय हैं। 'उक्ति व्यक्ति-विवृत्ति' का उद्धरण पाटण भडार सूची के पृष्ठ १२८-१५४ से यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। 'उक्ति-व्यक्ति-विवृत्ति' में 'अपभ्रश भाषा में लोग इस प्रकार कहते हैं' लिखा है—

'अपभ्रश (श) भाषया लोको वदति *यथा* ॥ धम्मुं *आथि*। धम्मुं कीज (३)। दुह गावि, दुधु गुआल। यजमान वापडिआ। गगाए धम्मुं हो, पापु जा। पृथ्वी वरति। मेह वरिस। आखि देस नेहाल। आखि देसत आद्य। जीमें चाउ। काने सुण। बोल-बोल। वाचा वदति।

प० दामोदर रचित 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' सिघवी जैन ग्रथमाला से प्रकाशित हो चुका है।

इसे काफी प्राचीन और कौशली बोली का बतलाया गया है। इसमे दिए हुए बहुत से शब्द रूप राजस्थानी में भी उद्धृत होत हैं। इसका एक रूप देखें—इसी का हेटइ दीरउ वाधियउ। हिट्टिलउ दारउ ऊपलउ वेड हाथि धरेवा। जउ पाणिउ प्रत्यासन्नु परउ परइ तीर गियउ होइ तउ हेट्टिलउ दारउ ताणेवउ। *जिम्ब पाणिउ पाणिय मिलइ किम्बइ तहिं ठावि पातण न लाभइ त थीर वृध* हेटइ नेउ पात्रु मेल्हइ अथवा पात्रु टूंभु त गापरउ नवउ पाणीइ प्रतोतनि भीज-

प्राचीन राजस्थानी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ

श्री सीताराम लाळस

खुम्माण रासो

राजस्थानी साहित्य मे प्रारम्भ से ही प्रथम काव्य ग्रंथ के रूप मे 'खुमाण-रासो' का उल्लेख किया जाता रहा है।[1] आज इसकी प्राप्त प्रतियों के आधार पर इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों को पूर्ण सन्देह है। इस काव्य-ग्रन्थ मे चित्तौड के महाराणा प्रताप-सिंह तक का वर्णन किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि यह ग्रंथ समय-समय पर सामग्री प्राप्त करने के कारण अपने वास्तविक रूप से सर्वथा भिन्न तरह का हो गया है। एक स्थान पर इसके रचयिता का नाम दलपतविजय लिखा गया है। कुछ लोगों के मतानुसार ये जैन साधु थे।[2] कर्नल टॉड ने अपने इतिहास मे चित्तौड के रावळ खुम्माण का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इतिहास मे लिखा है कि बाप्प भोज (बप्पा) के पश्चात् खुम्माण गद्दी पर बैठा। इतिहास मे इस खुम्माण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसके शासन-

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, सातवां संस्करण, संवत् २००८, पृष्ठ ३३।

[2] "ये (दलपत) तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजयजी के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था किन्तु दीक्षा के बाद बदल कर दौलत-विजय रख लिया गया था। विद्वानों ने इनका मेवाड के रावल खुम्माण द्वितीय (संवत् ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव मे इनका रचनाकाल संवत् १७३० और सं० १७६० के मध्य मे है। राजस्थानी भाषा और साहित्य—मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८२।

'कालिकाचार्य कथा' की सं० १४८५ की लिखी हुई प्रति हमारे संग्रह में है। 'गणितसार बालावबोध' आदि कुछ गद्य रचनाएँ १५ वी शताब्दी की प्रकाशित भी हुई है।

इस प्रकार आदिकालीन जैन राजस्थानी साहित्य का यथा-ज्ञात संक्षिप्त परिचय देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। वास्तव में ऐसे निबंध को तैयार करने के लिए काफी समय की आवश्यकता है। मैं इधर अन्य कामों में बहुत व्यस्त रहा और परम्परा के सम्पादक श्री नारायणसिंह भाटी का बराबर तकाजा होता रहा। इसलिए मैं जिस रूप में इसे लिखना चाहता था नहीं लिख सका; फिर भी इस समय की रचनाओं की जानकारी बहुत ही कम प्रकाश मे आई है, इसलिए कुछ तो इससे लाभ होगा ही, समझ कर इसे प्रकाशित किया जा रहा है। वैसे डा० हरिशंकर 'हरीश' ने मेरे यहाँ कई महिने रह कर मेरी समस्त सामग्री का उपयोग करते हुए 'आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य' नामक शोध-प्रबंध लिखा है। उसके प्रकाशित होने पर जिज्ञासुओं को, आशा है, कुछ संतोष होगा।

परम्परा ने इस विशेषांक के द्वारा महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित की है। राजस्थानी साहित्य के इतिहास-निर्माण मे यह बहुत सहायक होगा।

ढोला मारू रा दूहा—

राजस्थानी के श्रेष्ठ प्रणय-काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' का रचनाकाल श्री मोतीलाल मेनारिया ने वि० सं० १००० के आसपास का अनुमान किया है।[1] ढोला मारू एक लोक-काव्य के रूप में प्रसिद्धि पा चुका है। ऐसे जन-प्रिय लोक-काव्यों की जो अवस्था होती है उसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं। संभव है सर्वप्रथम इसकी रचना किसी सुयोग्य कवि ने की हो तथापि वर्तमान रूप में जो 'ढोला मारू' की प्रतियां उपलब्ध हैं वे कालान्तर में अन्य लोगों द्वारा जोड़े गए प्रक्षिप्त अंशसहित ही मिलती हैं। काव्य की कथा ऐतिहासिक है, यद्यपि पूर्ण ऐतिहासिक शोध के अभाव में यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि उसमें ऐतिहासिकता का अंश कितना है। कछवाह राजपूतों की ख्यातों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि नल और ढोला ऐतिहासिक व्यक्ति है। काव्य में ढोला को नरवर के चौहान राजा नल का पुत्र बताया गया है किन्तु इतिहास के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नरवर में चौहानों का राज्य कभी नहीं रहा। ओझाजी ने लिखा है[2] कि कछवाह वंश की ख्यातों में नल और ढोला का जो स्पष्ट वृत्तान्त मिलता है तथा ढोला को मारवणी का पति कहा है वह वस्तुतः सत्य है। अतः यह तो निसन्देह कहा जा सकता है कि ढोला कछवाह वंश का क्षत्रिय था। कछवाह वंश की ख्यातों में इसका समय संवत् १००० के आसपास दिया गया है। अगर ढोला के शासनकाल में ही ढोला मारू की रचना की गई हो तो इसका रचनाकाल सं० १००० के आसपास माना जा सकता है।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन दोहों का सबसे पुराना रूप ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का माना है।[3] डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इसका रचनाकाल विक्रम की १३ वीं, १४ वीं शती माना है।[4] १२ वीं या १३ वीं शती को इसका

---

[1] राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—डॉ० मोतीलाल मेनारिया, परिशिष्ट, पृष्ठ सं० २१९।

[2] टॉड राजस्थान - सम्पादक गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ ३७१, टिप्पणी संख्या ५९।

[3] हिन्दी साहित्य का आदि काल— डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

[4] हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—प्रथम भाग, खण्ड २, अध्याय ४, पृष्ठ ४०४।

काल मे ही बगदाद के खलीफा गलमासू ने चित्तौड पर चढाई की। कर्नल टॉड द्वारा यह वर्णन खुम्माण रासो के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता है। सम्भवत कर्नल टॉड को इस विषय मे कुछ भ्रान्ति हो गई थी। काल-भोज से लेकर तीसरे खुम्माण तक वशावली इस प्रकार मानी गई है[1]—काल-भोज (बप्पा), खुम्माण, मत्ट, भर्तृभट्ट सिंह, खुम्माण (द्वितीय) महायक, खुम्माण (तृतीय)। इस प्रकार स्पष्ट है कि खुम्माण तीन हुए हैं। कर्नल टॉड ने इन तीनो को एक ही मान लिया है। लेकिन इन तीनो का शासनकाल इतिहासकार इस प्रकार मानते हैं।

खुम्माण (प्रथम) वि० स० ८१० से ८३५
खुम्माण (द्वितीय) „ , ८७० से ६००
खुम्माण (तृताय) „ , ६६५ से ६६०

अब्बासिया वश के अलमासू का समय भी वि० स० ८७० से ८६० तक माना जाता है। इसी समय वह खलीफा रहा। यदि कोई लडाई अलमासू के साथ खुम्माण की हुई होगी तो वह दूसरे खुम्माण के समय म ही हुई होगी। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि 'खुम्माण रासो' की रचना भी इसी काल मे हुई।[2]

यह सबकुछ होते हुए भी मूल रचना के वास्तविक स्वरूप के अभाव मे उसके रचनाकाल के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। इस रचना म महाराणा प्रताप तक का वर्णन होने के कारण कई विद्वान इसे १७ वी शताब्दी की ही रचना मानते हैं। इसके साथ यह भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि दलपतविजय इसका मूल रचयिता था अथवा प्रक्षिप्त अश का।[3] इस प्रकार खुम्माण रासो को प्रामाणिक रूप से राजस्थानी का प्रथम काव्य ग्रथ स्वीकार नही किया जा सकता।

---

[1]वीर विनोद—कविराजा श्यामलदास पृष्ठ २६७ स २७२ तक।

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, सातवाँ सस्करण सवत २००८ पृष्ठ ३३ के आधार पर।

[3]हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास—स० राजबली पाण्डेय, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७६।

मान किया जा सकता है कि हेमचद्र के समय तक ढोले के सम्बन्ध में दोहे जन-साधारण में इतने प्रचलित हो गये होंगे कि उस समय के कवियों ने इसके नाम का नायक के रूप मे कविता मे प्रयोग करना आरम्भ कर दिया हो। जन-साधारण में दोहों के ऐसे प्रचलन के लिए सौ डेढ़ सौ वर्ष का समय कुछ अधिक नही। अगर हेमचंद्र का समय संवत् ११४५ से १२२६ माना गया है तो ढोला-मारू के दोहों का निर्माणकाल १००० सहज ही माना जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरणों में भाषा-विज्ञान के अनुसार अर्थ-विस्तार प्रायः हो जाया करता है। राजस्थानी भाषा की विवेचना करते समय ऐसे उदाहरण हम प्रस्तुत कर चुके है।[1]

भाषा की दृष्टि से वर्तमान समय मे प्रचलित ढोला मारू के दोहे इतने प्राचीन नही मालूम होते। वस्तुतः लोक-काव्य और अन्य साहित्यिक रचनाओ मे काफी अन्तर होता है। किसी साहित्यिक ग्रंथ के निर्माण में कुछ न कुछ साहित्यिक कला का होना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। लोक-गीतों की रचना-व्यवस्था इसके ठीक विपरीत होती है। लोक-गीतों का निर्माता यदि कोई हो सकता है तो देश विशेष की प्राचीनकालीन परिस्थिति और साधारण जनता की सामूहिक रागात्मक अभिरुचि ही हो सकती है। गेय गीतो को मौखिक रूप मे आने वाली पीढियों मे हस्तान्तरित करने की परम्परा बहुत ही प्राचीन समय से प्रचलित रही है। अत वह तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि से प्रेरणा पाती रहती है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ढोला मारू की भूमिका मे इस सबध मे एक स्थान पर लिखा है,[2] 'यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की एक विशेष कृति है' और सम्भव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान मे रख कर उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता के प्रीत्यर्थ उसी के मनोभावो को वर्तमान काव्य-रूप मे बद्ध कर उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और जनता ने बडी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मान कर कठस्थ किया हो। ऐसी दशा मे व्यक्ति विशेष कवि होने पर भी उसके व्यक्तित्व का सामूहिक अभिरुचि के प्रबल प्रवाह मे लुप्तप्राय हो जाना सम्भव है। अतएव हमारा

---

[1] देखो—'राजस्थानी सबद कोस' की प्रस्तावना मे राजस्थानी भाषा का विवेचन, पृ० १७।

[2] ढोला मारू रा दोहा, भूमिका, पृष्ठ ३६।

रचनाकाल मानने वाले इसकी रचना ढोले के तीन सौ वर्ष बाद हुई मानते हैं। सिद्ध हेमचद्र ने अपनी अपभ्र श व्याकरण में दो तीन बार 'ढोल्ला' शब्द का प्रयोग किया है।[1] वहा यह तीनो बार नायक के अर्थ मे आया है। हेमचद्र का जन्म सवत् ११४५ और मृत्यु सवत् १२२९ मे मानी गई है।[2] श्री मोहनलाल दलीचद देसाई ने भी इसका समर्थन किया है।[3] इससे यह तो स्पष्ट है कि उस समय ढोला के सम्बन्ध में जनसाधारण में काफी जानकारी प्रचलित होगी। जिस प्रकार राधा और कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति होते हुए भी कालातर मे काव्य में नायक नायिका के रूप में रूढ हो गए, ठीक उसी प्रकार ढोले का नाम भी तत्कालीन कविताओ में नायक के रूप मे प्रयुक्त किया जाने लगा हो। आधुनिक राजस्थानी लोक गीतो मे ढोले का प्रयोग नायक, पति, वीर आदि के लिए प्रचुरता के साथ पाया जाता है।[4] इससे यह सहज ही मे अनु-

---

[1] ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्णरेह कस वट्टइ दिण्णी ॥८।४।३३०।१
ढोल्ला मइ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥८।४।३३०।२
ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण भण कवणहि देसि।
हउ झिज्जउ तउ केहि पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥८।४।४२५।१
अपभ्र श व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र।

[2] कुमारपाल चरित—Introduction Page XXIII XXV (१९३६)

[3] जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग 'जूनी गुजराती भाषा नो सक्षिप्त इतिहास' श्री मोहनलाल दलीचद देसाई, पृष्ठ ११३।

[4] (i) गोरी छाई छं जी रूप, ढोला धीरा धीरा आव।
(ii) सावण खेती, भवरजी, थे करीजो, हाँजी ढोला म्हे बूठे करघो थो निनाण। सोट्टां री रुत छाया, भवरजी, परदस मे जी, मोजी म्हारा घण कमाऊ उमराव, थारी प्यारी नैं पलक न आवड़ै जी।
(iii) गोरी तो भीजं, ढोला गोरवडै, पान्यो तो भीजं जी पोला माय। अब घर आयजा आशा थारी लग रही हा जी।
(iv) दूषा नं सींचायो ढोलाजी रो नीबूडो यो राज।
ढोला मारू रा दूहा—स० रामसिंह तथा नरोत्तमदास, पृष्ठ स० ३९८

त्यिक महत्व को छोड कर पहले इन पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार कर लेना आवश्यक है। श्री मेनारियाजी के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति ने इन दोहो की रचना इतनी प्राचीन नही मानी है। प्राय प्रत्येक सोरठे के अन्त मे जेठवा या मेहउत शब्द आया है। स्वर्गीय श्री भवेरचद मेघाणी ने जेठवे के गुजराती सोरठो का सकलन किया था। इसी प्रसग मे एक स्थान पर उन्होने लिखा है, "यह कथा श्री जगजीवन पाठक ने सन् १६१५ मे 'गुजराती' के दीपावली अक में लिखी थी तथा 'मकरध्वजवशी महीपमाला' पुस्तक मे भी लिखी है। इसमे सम्पादक तलाजा के एलभवाला' का प्रसग (मात हुकाली, मत्रेमहरण आदि देखो रसधार १ पृष्ठ १८८) मेहजी के साथ जोडते हैं। इसके पश्चात् यह प्रसग वरडा पर्वत पर नही परन्तु दूर ठागा पर्वत पर घटित मानते हैं। मेहजी को श्री पाठक १४४वी पीढी मे रखते हैं परन्तु उनका वर्ष व सवत् नही बताते। उनके द्वारा बाद मे १४७ वें राजा को १२ वी शताब्दी मे रखने से अदाज से मेहजी का समय दूसरी या तीसरी शताब्दी के भीतर किया जा सकता है, परन्तु वे स्वय दूसरे एक मेहजी को (१५२) सवत् १२३५ के अतर्गत लेते हैं। ऊजली वाले मेहजी यह तो नही हो सकते। कथा के दोहे १०००-१५०० वर्ष प्राचीन तो प्रतीत नही होते। घटना होने के पश्चात् १०० २०० वर्षो में इसका काव्य साहित्य रचा गया होगा। यदि इस प्रकार गणना करें तो मेह-ऊजली के दोहे सवत् १४००-१५०० तक प्राचीन होने की कल्पना अनुकूल प्रतीत होती है। तो फिर इस कथा के नायक का १५२ वा मेहजी होने की सभावना अधिक स्वीकार करने योग्य प्रतीत होती है।" इसके अतिरिक्त इन सोरठो की भाषा भी नवीन है। कालान्तर म जेठवे के नाम पर विभिन्न कवियो द्वारा रचे गए सोरठे भी इसम सम्मिलित होते गए। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो सोरठे मथानियानिवासी श्री जेतदानजी बारहठ द्वारा सवत् १९७४-७५ मे लिखे गए थे किन्तु वे बाद में जेठवे के सोरठे के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

> डहक्यो डफर देख, वादळ थोथौ नीर विन,
> आई हाथ न एक, जळ री बूद न जेठवा।
> दरसण हुआ न देव, भेव विहूणा भटकिया,
> सूना मिंदर सेव, जनम गमायौ जेठवा।

उपरोक्त दोहे जेठवे के नाम से 'परम्परा' के 'जेठवे रा सोरठा' नामक अक म प्रकाशित हो चुके हैं। अत इन दोहो का ठीक रचनाकाल निश्चित करना

अनुमान है कि व्यक्ति विशेष का इसके बनाने में कुशल हाथ स्पष्टत दृष्टि-गोचर होते हुए भी सामूहिक मनोभावो की एकता और सहानुभूति एकत्रित होने के कारण कवि का व्यक्तित्व समूह मे लुप्त हो गया है और अत में मौखिक परम्परा से चला आता हुआ यह काव्य हमको किसी व्यक्ति विशेष कवि की कृति के रूपो में नही मिला बल्कि जनता के काव्य के रूप में उपलब्ध हुआ है।

कुछ विद्वानो ने 'कल्लोल' नामक एक कवि को ही इसका रचयिता माना है।[1] जोधपुर के सिवाना नामक ग्राम मे एक जैन यति के पास से प्राप्त प्रति मे इसके रचयिता का नाम लूणकरण खिडिया लिखा है। खेद की बात है कि सवत् १५०० के पहले की लिखी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नही हुई है। वैसे तो 'ढोला मारू रा दूहा' की बहुत-सी हस्तलिखित प्रतिया राजस्थान के पुस्तक-भडारो में मिलती हैं किन्तु वे अधिक पुरानी नही हैं। असली काव्य तो सम्भवतया सब का सब दोहो मे ही लिखा गया होगा परन्तु कालान्तर मे दोहो की यह शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई। सवत् १६१८ के लगभग जैसलमेर के एक जैन यति कुशललाभ ने तत्कालीन महारावल के आदेशानुसार ढोला मारू के विभिन्न बिखरे दोहो को इकट्ठा किया और इस छिन्न भिन्न कथा सूत्र को मिलाने के लिए कुछ चौपाइया बनाईं। इन चौपाइयो को दोहो के बीच में रख कर कुशललाभ ने पूरे कथा-सूत्र को ठीक कर दिया। अभी तक उपलब्ध प्रतियो में यही प्रति सबमे पुरानी मानी गई है। श्री गौरीशकर हीराचद ओझा ने इन दोहो का निर्माणकाल सवत् १५०० वि० के लगभग माना है।[2]

जेठवैरा सोरठा—

राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा के परिशिष्ट में श्री मेनारिया ने 'जेटवैरा सोरठा' का निर्माणकाल स० ११०० के लगभग दिया है।[3] इनके साहि-

---

[1] (क) राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा हीरालाल माहेश्वरी, पृ. २०१।
(ख) राजस्थानी भाषा और साहित्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, पृ १०१।
(ग) हिन्दी काव्य-धारा मे प्रेम प्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ २६।
(घ) प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाग ६ स गोवर्द्धन शर्मा पृ ८३ ८५।

[2] ढोला मारू रा दूहा—प्र० नागरी प्रचारिणी सभा काशी, डॉ० ओझा द्वारा लिखित प्रवचन, पृष्ठ ५।

[3] राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ २१६।

लोगों को प्रसन्न करने के लिए उसने कुछ बेतुकी तुकबंदी करके काव्य का एक ढांचा येन-केन-प्रकारेण खड़ा कर दिया जिस पर इसके पश्चात् के कवियों ने भी नमक-मिर्च लगाया। इस प्रकार एक साधारण कवि के मिथ्या-बहुल काव्य को लेकर जिसका असली रूप भी इस समय सुरक्षित नहीं, इतनी ऐतिहासिक ऊहापोह करनी ही व्यर्थ है।" श्री मेनारिया ने इस समय एक नई कल्पना की है। उन्होंने नरपति नाल्ह का संबंध नरपति नामक एक गुजराती कवि से जोड दिया है।[1] इन दोनों को वे एक ही कवि मानते हैं एवम् इनका रचनाकाल सवत् १५४५-१५६० के आसपास माना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी श्री मेनारिया के मत का समर्थन किया है।[2]

'बीसलदेव रासो' को प्राचीनतम मानने के लिए इसके निर्माणकाल की विवेचना अत्यन्त आवश्यक है। नरपति नाल्ह ने अपनी पुस्तक की रचना-तिथि निम्नलिखित प्रकार से दी है।

बारह सै बहोतरां हां मंझारि।
जेठ वदी नवमी बुधवारि॥
'नाल्ह' रसायण आरंभई।
सारदा तूठि ब्रह्म कुमारी॥[3]

इसी के आधार 'बीसलदेव रासो' की रचना-तिथि मिश्रबधुओं ने[4] सवत् १३५४, लाला सीताराम ने १२७२ तथा सत्यजीवन वर्मा ने[5] १२१२ माना है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी वर्माजी के मत का अनुमोदन किया है।[6] मिश्र-बन्धुओं ने अपनी विनोद मे लिखा है—'चन्द और जल्हण के पीछे सवत १३५४ में नरपति नाल्ह कवि ने 'बीसलदेव रासो' नामक ग्रन्थ बनाया। इसमें चार खण्ड हैं और उनमे बीसलदेव का वर्णन है। नरपति नाल्ह ने इसका समय

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८८-८९।
[2] हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ५२।
[3] मिश्रबंधु-विनोद।
[4] बीसलदेव रासो—सं० सत्यजीवन वर्मा—काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रथम सर्ग।
[5] नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'बीसलदेव रासो' की भूमिका, पृष्ठ ५।
[6] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल (सातवा सस्करण), पृ. ३४।

अत्यत कठिन है। जो सोरठे पुराने कहे जाते हैं वे भी साहित्यिक दृष्टि से पद्रहवी, सोलहवी शताब्दी के प्रतीत होते हैं, चाहे इनका ऐतिहासिक आधार कितना ही पुराना क्यो न हो।

ढोला मारू रा दूहा' तथा जेठवे रा सोरठा' इन दोनो लौकिक प्रम-काव्यो में ऐतिहासिक तथ्य गौण ही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है[1] कि 'वस्तुत इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नही लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभडार म दृढ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यो को सदा काल्पनिक रग म रगा है। यहा कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियो का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नही हुआ। अत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकी, इतिहास नही।"

बीसलदेव रासो[2] —

प्राचीनता की दृष्टि से 'बीसलदेव रासो' का अत्यधिक महत्व है। साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्य कितना ही नगण्य क्यो न हो किंतु प्राचीनता उसकी एक ऐसी विशषता है जिसके कारण इसके अध्ययन अध्यापन की ओर कई विद्वानो का ध्यान गया है। अगर देखा जाय तो यही ग्रथ राजस्थानी का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रथ है। किसी भी प्राचीन ग्रथ का अपने शुद्ध रूप में मिलना सम्भव नही है और फिर एक ऐसे ग्रथ का जो सैकडो वर्षों तक गाया जाता रहा हो, शुद्ध प्राचीन रूप म मिलना सर्वथा असम्भव है। अत इसी को आधार मान कर कुछ विद्वानो ने समस्त प्राचीन ग्रथो को आधुनिक सिद्ध करने म ही अपनी अधिकाश शक्ति खर्च करदी है। बीसलदेव रासो के बारे म डा० उदयनारायण तिवारी लिखत हैं[3]—'वास्तव मे नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बडा कवि ही किसी सुने-सुनाये आख्यान क आधार पर

[1] हिन्दी साहित्य का आदि काल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७१।

[2] इसका विशुद्ध राजस्थानी रूप 'बीसलदे रासो' है।

[3] वीर काव्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २०८।

नाम 'बीसलदेव रासो' मे आते हैं, उनमें से कोई भी सं० १४०० के बाद का नही प्रमाणित हुआ है।"

श्री सत्यजीवन वर्मा एवम् श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल संवत् १२१२ माना है।[१] इसका कुछ ऐतिहासिक आधार भी है। 'बीसलदेव रासो' में सर्वत्र क्रिया का प्रयोग वर्तमान काल में किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि बीसलदेव का समकालीन था। दिल्ली की प्रसिद्ध फिरोजशाह की लाट पर संवत् १२२० (विक्रमी) वैशाख शुक्ला १८ का खुदा हुआ एक लेख मिलता है।[२] इसके द्वारा यह पता चलता है कि बीसलदेव सवत् १२१०-१२२० तक अजमेर का शासक था।

'बड़ा उपाश्रय' बीकानेर मे 'बीसलदेव रासो' की एक और प्रति कुछ दिन पहले मिली थी।[३] इसमे 'बारह सैं बहोत्तरां मझारि' के स्थान पर ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—

सवत् सहस तिहुत्तरइ जाणि,
नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि।

इसके अनुसार 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल संवत् १०७३ ठहरता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए सवत् १०७३ को ही उचित ठहराया है।[४] उन्होने अपने इतिहास मे लिखा है[५]—"गौरीशंकर

---

[१] 'बीसलदेव रासो'—सं० सत्यजीवन वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, भूमिका पृष्ठ ६।

[२] आविन्ध्यादाहिमाद्रे विरचितविजयस्तीर्थ यात्रा प्रसगा—
दुद्ग्रीवेपु प्रहर्पान्नपतिपु विनमत्कन्धरेषु प्रयन्न।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवाम्लेच्छविच्छेद नाभि—
देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः।
ब्रूते सम्प्रति चाहुबाणतिलकः शाकम्भरी भूपति—
श्री मान विग्रहराज एष विजयी सन्तान जानात्मनः।
अस्माभिः करदव्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरा लभुव.—
शेष स्वीकरणीयमस्तु भवतामुद्योग शून्य मनः।

[३] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक १, पृष्ठ ६६।

[४] हिन्दी का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम खड—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १४७।

[५] वही, पृष्ठ १४७।

१२२० लिखा है। परन्तु जो तिथि उन्होने बुधवार को ग्रन्थ-निर्माण की लिखी है वह १२२० सवत् मे बुधवार को नही पडती, परन्तु १२२० शाके बुधवार को पडती है। इससे सिद्ध होता है कि यह रासो १२२० शाके मे बना।" विक्रम सवत् और शक सवत् मे लगभग १३४ वर्ष का अन्तर है, अत उन्होंने ग्रथ का रचनाकाल सवत १३५४ मान लिया। मिश्रबधुओ की इस विवेचना का आधार बाबू श्यामसुन्दरदास की एक रिपोर्ट है[1] जिसमे उन्होने लिखा था "The author of this Chronicle is Narpati Nalha and he gives the date of the composition of the book as Sammawat 1220. This is not Vikram Sammat" किन्तु गौरीशकर हीराचद ओझा की मान्यता के अनुसार राजपूताने मे पहले शक सवत् प्रचलित नही था।[2] यहा के लोग विक्रम सवत् का ही प्रयोग करते थे। अत. शक सवत् की कल्पना उचित प्रतीत नही होती। इसके अतिरिक्त बहोतरा का अर्थ बीस मान कर इसका रचनाकाल १२२० मानना भी ठीक नही है। मिश्रबधु विनोद मे एक दामो नामक कवि का विवरण आता है। उसने 'लक्ष्मणसेन', 'पद्मावती' की कहानी लिखी थी। उसने अपने ग्रथ मे कहानी का रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

सवत् पदरह सोलोतरा मझार, ज्येष्ठ वदी नौमी बुधवार।
सप्त तारिका नक्षत्र दृढ जान, वीर कथा रस करू बखान॥

मिश्रबधुओ ने इस 'सोलोत्तरा' का अर्थ सवत् १५१६ लिखा है। तत्पश्चात् एक हरराज नामक अन्य कवि का वर्णन, जिसने राजस्थानी मे 'ढोला मारू बानी' चौपइयो मे लिखी थी। उसमे भी कहानी का रचनाकाल 'सवत् सोलह सै सत्तोतरइ' दिया है। मिश्रबन्धुओ ने यहा भी इसका अर्थ १६०७ किया है, १६७७ नही। आश्चर्य तो यह है कि वे 'पदरइ सौ सोलोत्तरा' को तो १५१६ और सोलह सौ सत्तोतरइ' को १६०७ मान लेते हैं, किन्तु 'बारह सै बहोतरा' को १२१२ न मान कर १२२० मानते हे। वस्तुत 'बहोत्तर' द्वादशोत्तर का रूपान्तर मात्र है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'बीसलदेव रासो' को सवत् १४०० मे रचा हुआ मानते हैं।[3] इस सबध मे उनका तर्क यह है कि 'जिन स्थानो के

[1]हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की रिपोर्ट, सन् १६०० ।
[2]काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित 'बीसलदेव रासो' की भूमिका, पृष्ठ ६ मे दिए गए डॉ० ओझा के पत्र का उल्लेख।
[3]'बीसलदेव रास'—स० डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवम् श्री अगरचद नाहटा, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग द्वारा प्रकाशित, भूमिका पृष्ठ ५८।

नाम 'बीसलदेव रासो' मे आते हैं, उनमे से कोई भी सं० १४०० के बाद का नही प्रमाणित हुआ है।"

श्री सत्यजीवन वर्मा एवम् श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल सवत् १२१२ माना है।[1] इसका कुछ ऐतिहासिक आधार भी है। 'बीसलदेव रासो' मे सर्वत्र क्रिया का प्रयोग वर्तमान काल मे किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि बीसलदेव का समकालीन था। दिल्ली की प्रसिद्ध फिरोजशाह की लाट पर सवत् १२२० (विक्रमी) वैशाख शुक्ला १५ का खुदा हुआ एक लेख मिलता है।[2] इसके द्वारा यह पता चलता है कि बीसलदेव सवत् १२१०-१२२० तक अजमेर का शासक था।

'बडा उपाश्रय' बीकानेर मे 'बीसलदेव रासो' की एक और प्रति कुछ दिन पहले मिली थी।[3] इसमे 'बारह सै बहोत्तरा मझारि' के स्थान पर ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—

सवत् सहस तिहत्तरइ जाणि,
नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि।

इसके अनुसार 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल सवत् १०७३ ठहरता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए सवत् १०७३ को ही उचित ठहराया है।[4] उन्होने अपने इतिहास मे लिखा है[5]—"गौरीशकर

---

[1]'बीसलदेव रासो'—सं० सत्यजीवन वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित भूमिका पृष्ठ ६।

[2]आविन्ध्यादाहिमाद्रे विरचितविजयस्तीर्थ यात्रा प्रसगा—
दुद्ग्रीवपु प्रहर्पान्नपतिपु विनमत्कन्ध रेणु प्रयत्न।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेद नाभि—
देव· शाकभरीन्द्रो जगति विजयते बीसल· क्षोणिपालः।
ब्रुते सम्प्रति चाहुबाणतिलकः शाकभरी भूपति—
श्री मान विग्रहराज एप विजयी सन्तान जानात्मन्।
अस्माभि करदव्याधापि हिमवद्विन्ध्यान्तरा लभुव —
शेप स्वीकरणीयमस्तु भवतामुद्योग शून्य मन·।

[3]नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अक १, पृष्ठ ९९।

[4]हिन्दी का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम खड—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १४७।

[5]वही, पृष्ठ १४७।

१२२० लिखा है। परन्तु जो तिथि उन्होने बुधवार को ग्रन्थ निर्माण की लिखी है वह १२२० सवत् मे बुधवार को नही पडती, परन्तु १२२० शाके बुधवार को पडती है। इससे सिद्ध होता है कि यह रासो १२२० शाके मे बना।" विक्रम सवत् और शक सवत् मे लगभग १३४ वर्ष का अन्तर है, अत उन्होंने ग्रथ का रचनाकाल सवत १३५४ मान लिया। मिश्रबधुओ की इस विवेचना का आधार बाबू श्यामसुन्दरदास की एक रिपोर्ट है[1] जिसमे उन्होने लिखा था "The author of this Chronicle is Narpati Nalha and he gives the date of the composition of the book as Sammawat 1220. This is not Vikram Sammat" किन्तु गौरीशकर हीराचद ओझा की मान्यता के अनुसार राजपूताने मे पहले शक सवत् प्रचलित नही था।[2] यहा के लोग विक्रम सवत् का ही प्रयोग करते थे। अत शक सवत् की कल्पना उचित प्रतीत नही होती। इसके अतिरिक्त वहोतरा का अर्थ बीस मान कर इसका रचनाकाल १२२० मानना भी ठीक नही है। मिश्रबधु विनोद मे एक दामो नामक कवि का विवरण आता है। उसने 'लक्ष्मणसेन', 'पद्मावती' की कहानी लिखी थी। उसने अपने ग्रथ में कहानी का रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

सवत् पदरह सोलोत्तरा मझार, ज्येष्ठ वदी नौमी बुधवार।
सप्त तारिका नक्षत्र दृढ जान, बीर कथा रस करू बखान॥

मिश्रबधुओ ने इस 'सोलोत्तरा' का अर्थ सवत् १५१६ लिखा है। तत्पश्चात् एक हरराज नामक अन्य कवि का वर्णन, जिसने राजस्थानी मे 'ढोला मारूवानी' चौपइयो मे लिखी थी। उसमे भी कहानी का रचनाकाल 'सवत् सोलह सै सत्तोतरइ' दिया है। मिश्रबन्धुओ ने यहा भी इसका अर्थ १६०७ किया है, १६७७ नही। आश्चर्य तो यह है कि वे 'पदरह सौ सोलोत्तरा' को तो १५१६ और 'सोलह सौ सत्तोतरइ' को १६०७ मान लेते हैं, किन्तु 'बारह सै बहोतरा' को १२१२ न मान कर १२२० मानते हैं। वस्तुत 'बहोतर' द्वादशोत्तर का रूपान्तर मात्र है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'बीसलदेव रासो' को सवत् १४०० मे रचा हुआ मानते हैं।[3] इस सबध मे उनका तर्क यह है कि 'जिन स्थानों के

---

[1] हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की रिपोर्ट, सन् १६०० ।

[2] काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित 'बीसलदेव रासो' की भूमिका, पृष्ठ ६ मे दिए गए डॉ० ओझा के पत्र का उल्लेख।

[3] बीसलदेव रास'—स० डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवम् श्री अगरचद नाहटा, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग द्वारा प्रकाशित, भूमिका पृष्ठ ५८।

संवत् १०७३ के विषय में कई तर्क दिए जाते हैं। वीसलदेव का विवाह भोज की कन्या राजमती के साथ होना लिखा है। राजा भोज के समय के संबंध में विसेंट ए० स्मिथ लिखते हैं[1]—'Munja's Nephew, the famous Bhoja ascended the throne of Dhar in those days the capital of Malwa, about 1018 A D and reigned gloriously for more than forty years'

इस दृष्टि से राजा भोज वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का समकालीन ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में वीसलदेव का राजा भोज की पुत्री से विवाह होना संभव है। अगर संवत् १२१२ को रचनाकाल माना जाय तो यह निश्चित है कि वीसलदेव रासो घटनाकाल के काफी बाद में लिखा गया होगा। किन्तु जैसा कि हम लिख चुके हैं रासो की भाषा में वर्तमान काल का इस ढंग से प्रयोग किया गया है कि कवि को नायक का समकालीन मानना ही होगा। अतः अगर वीसलदेव रासो के नायक को विग्रहराज चतुर्थ मान लिया जाय तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजा भोज की पुत्री के साथ विवाह किस प्रकार संभव है। 'धार' में उस समय कोई भोज नामक राजा नहीं था। वीसलदेव के एक परमार वंशीय रानी तो अवश्य थी, क्योंकि उसका वर्णन पृथ्वीराज रासो में भी आता है।[2] हो सकता है, राजा भोज के पश्चात् उस वंश ने यह उपाधि प्राप्त करली हो, जिससे आगे होने वाले परमार-वंशी सरदार व राजा का भोज उपाधिसूचक नाम रहा हो। नरपति नाल्ह ने अपने रासो में असली नाम न देकर केवल उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो। किन्तु परमारवंशी कन्या के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनके द्वारा यह भ्रम हो जाता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से मिलाया हुआ न हो, जैसे—'जन्मी गौरी तू जैसलमेर गोरडी जैसलमेर की'। धार के परमार इधर राजपूताने में भी फैले हुए थे, अतः राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है।

इस संबंध में किसी एक और मत का उल्लेख आवश्यक है। डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है[3]—"वीसलदेव रासो नामक हिन्दी काव्य में

---

[1] 'Early History of India' V A Smith, Page 393

[2] देखो—भूमिका, H Search Report 1900

[3] राजपूताने का इतिहास, Vol I गौरीशंकर हीराचंद ओझा (दूसरा परिवर्द्धित संस्करण) पृष्ठ २१२।

बीसलदेव रासो मे बीसलदेव की यात्रा का वर्णन इतने स्पष्ट शब्दो मे किया गया है कि धार के राजा के सिवाय अन्य किसी के साथ सबध की कल्पना करना ही उचित नही जँचता। बीसलदेव अजमेर से रवाना होता हुआ चित्तौड होकर धार पहुचता है। यात्रा के स्थानो का वर्णन भी स्पष्ट है। अत यह आवश्यक है कि बीसलदेव राजा भोज का समकालीन हो। सवत् १०७३ वि० मानने से ऐसा होना सभव है।

रासो मे लिखा है कि शादी के पश्चात् बीसलदेव तीर्थ यात्रा के प्रसग म उडीसा गया था, तथा उडीसा जाने के पहल भी सात वर्ष बाहर रहा था। मुहणोत नैणसी की ख्यात का अनुवाद व सपादन करते हुए श्री रामनारायण दूगड ने एक टिप्पणी मे लिखा है[1] कि 'बीसलदेव दूसरे ने नरबदा तक देश विजय किया। गुजरात के प्रथम सोलकी राजा मूलराज को कथाकोट म भगाया, अणहिलवाडे के पास बीसलपुर का नगर बसाया तथा भडौच मे आसापुरी देवी का मन्दिर बनवाया। सोलकी राजा मूलराज के साथ युद्ध करन के कारण बीसलदेव साल डेढ साल बाहर रहा था, तथा बीसलपुर नामक नगर बसाया था।" श्री ओझाजी भी इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं[2] 'मूलराज को इस प्रकार उत्तर मे आगे बढता देख कर साभर के चौहान राजा विग्रहराज (बीसलदेव दूसरे) ने उस पर चढाई करदी जिससे मूलराज अपनी राजधानी छोड कर कथा दुर्ग (कथा कोट का किला-कच्छ राज्य) म भाग गया। विग्रहराज साल भर तक गुजरात मे रहा और उसको जर-जर करके लौटा।"

सभव है कवि ने इसी साल डेढ साल का बप की अवधि में परिणित कर दिया हो, तथा नरबदा व पूर्व के देश जीतन के लिए कुछ वर्ष उसे बाहर बिताने पडे हो और नरपति नाल्ह ने उस अवधि को बारह वर्ष लिख डाला हो।

उपरोक्त सब दृष्टियो से सवत १०७३ की तिथि ही अधिक प्रमाणित मालूम देती है। किन्तु इस सबध मे एक शका और होती है। विग्रहराज द्वितीय

---

[1] मुहणोत नैणसी की ख्यात—(प्रथम भाग) हिन्दी अनुवाद—स० रामनारायण दूगड, पृष्ठ १६६ क फुटनोट म दी गई टिप्पणी।

[2] राजपूताने का इतिहास Vol I—लखक गौरीशकर हीराचद ओझा, पृष्ठ २४०।

मालवे के राजा भोज की पुत्री राजमती का विवाह चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज तीसरे) के साथ होना लिखा है और अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय के (वि. सं. १२२६) बीजोल्या (मेवाड) के चट्टान पर खुदे हुए बड़े शिलालेख में बीसलदेव की रानी का नाम राजदेवी मिलता है। राजमती और राजदेवी एक ही राजकुमारी के नाम होने चाहिएँ। परन्तु भोज ने साभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसी दशा मे भोज की पुत्री राजमती का विवाह बीसलदेव के साथ होना सभव नही। उदयादित्य ने चौहानो से मेल कर लिया था। अतः सभव है कि यदि बीसलदेव रासो के उक्त कथन मे सत्यता हो तो राजमती उदयादित्य की पुत्री या बहिन हो सकती है" अवती के राजा भोज ने साभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसा उल्लेख पृथ्वीराज विजय मे भी है।[1] वीर्यराम विग्रहराज तृतीय का ताऊ था। अतः बीसलदेव, विग्रहराज तृतीय और परमारवशी राजा भोज मे परस्पर वैमनस्य पैदा हो गया था। ऐसी दशा मे राजा भोज की बीसलदेव तृतीय के साथ अपनी पुत्री का विवाह करना सभव नही जान पडता। किन्तु श्री रामबहोरी शुक्ल तथा भगीरथ मिश्र ने इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि[2] "यह तो निश्चित ही है कि भोज-वीर्यराम युद्ध के बाद मालवा और शाकभरी के राजाओ मे सुलह हो गई थी। क्या यह सभव नही कि वीर्यराम के भतीजे बीसलदेव तीसरे की वीरता से मुग्ध होकर भोज ने अपनी लडकी उसे ब्याह दी और इसी सबध के कारण बीसलदेव ने उदयादित्य की सहायता की हो। तब यह कहना होगा कि नरपति ने बीसलदेव चौथे के राज्यकाल म १२१२ वि० (११५५ ई०) में बीसलदेव रासो की रचना की, परत [illegible] कहानी दी वह बीसलदेव तीसरे की थी।"

बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसे अनार्पण देवी के नाम पर बना हुआ मानते हैं।[1] बाबू साहब वीसलदेव रासो मे वर्णित आनासागर और अर्णोराज द्वारा बनाये गये आनासागर मे भेद करते हैं। किन्तु वह एक ही है जो अजमेर से कुछ दूरी पर है। विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव जब विवाह कर के लौटा होगा तो इस सागर की शोभा नवीन रही होगी तथा उसके पिता की कीर्ति-स्मरण के लिए कवि ने इसका वर्णन किया हो। ऐसी अवस्था मे विग्रहराज द्वितीय व तृतीय को (जो अर्णोराज से डेढ सौ वर्ष पहले हो चुके थे) शादी के पश्चात् आना-सागर का मिलना असम्भव-सा हो जाता है।

उपरोक्त दो विरोधाभाषी ऐतिहासिक तथ्यो के कारण वीसलदेव रासो का रचनाकाल निश्चित रूप से तय किया जाना कुछ कठिन-सा है। इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि यह सैकडो वर्षो तक गाया जाता रहा। गेय रूप मे होने के कारण किसी गायक ने उस समय परिस्थितियो के अनुसार अगर उसमे थोडा बहुत परिवर्तन कर लिया हो तो आश्चर्य नही। जो विरोधाभाषी ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं उसका यही कारण जान पडता है। वास्तव मे सवत् १०७३ की तिथि ही निश्चित रूप से सही जान पडती है। वीसलदेव तथा धार का राजा भोज पवार दोनो ग्यारहवी शताब्दी मे सवत् १००० और १०७३ के बीच मे थे। राजा भोज का राज्यासीन होने का समय स १०५५ माना जाता है। किन्तु जिस समय राजा भोज गद्दी पर बैठा उस समय उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी। अत राजमती का राजा भोज की पुत्री न होकर बहिन होना ही अधिक उचित मालूम पडता है। अगर वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का स्वर्गवास स० १०५६ मे मान लिया जाय तो वीसलदेव रासो का रचनाकाल उसके सतरह वर्ष बाद होता है। १७ वर्ष का समय इतना लम्बा नही जो वीसलदेव और भोज जैसे प्रसिद्ध राजाओ की स्मृति को भुला दे। और उनके सम्बन्ध मे कवि को कल्पना का सहारा लेना पडे। अजमेर एवम् आनासागर-सम्बन्धी वर्णन गायको ने वीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के समय तथा उसके बाद भी सम्भवतया सम्मिलित कर लिए हो।

वीसलदेव रासो की भाषा भी आरम्भिक राजस्थानी का उदाहरण है। कई सौ वर्षों तक मौखिक रूप मे रहने पर कई स्थल वस्तुत बदल गए है। किन्तु

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, पृष्ठ १४१।

सांभर का शासक था। जैसा कि स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी अपने इतिहास में स्पष्ट किया है।[1] प्रस्तुत रासो का नायक अजमेर का शासक था—

गढ़ अजमेरां को चाल्यो राव,
गढ़ अजमेरां गम करऊ,
गढ़ अजमेरां पहुतो जाय।

अजमेर नगर अर्णोराज के अजयदेव (अजयराज) के द्वारा बसाया गया था। श्री ओझाजी ने भी पृथ्वीराज प्रथम (सं० ११६२ वि०) के पुत्र अजयदेव को अजमेर बसाने वाला कहा है। श्री रामनारायण दूगड भी इसका समर्थन करते हैं।[2] अजयदेव का समय सं० ११७० वि० के आसपास का माना जाता है। इस दृष्टि से बीसलदेव विग्रहराज द्वितीय (जो लगभग एक सौ वर्ष पहले हो चुका था) का अजमेर का शासक होना सभव नही है।

अपने विवाह के पश्चात् जब बीसलदेव धार से अजमेर लौटता है तो उसे आनासागर मार्ग में मिलता है।—

दीठउ आनासागर समद तणी बहार।
हंस गवणि मृगलोचणी नारि॥
एक भरइ बीजी कलिस करइ।
तीजो घरी पावजे ठंडा नीर॥
चौथी घनसागर जू झूलई।
ईसी हो समद अजमेर को वीर॥[3]

आनासागर झील को बनाने वाले अर्णोराज बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के पिता थे। ओझाजी ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[4]

---

[1] राजपूताने का इतिहास, Vol. I—ले. गौरीशंकर हीराचद ओझा, पृ. २४०।

[2] मुहणोत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग), हिन्दी अनुवाद—स रामनारायण दूगड, पृष्ठ १८६, फुटनोट की टिप्पणी।

[3] बीसलदेव रासो—स० सत्यजीवन शर्मा, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ७५।

[4] अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानों की सेना फिर इधर आई। पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ बढ़ी और पुष्कर की घाटी का उल्लघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुँची, जहा अर्णोराज ने उसका संहार कर विजय प्राप्त की। यहा मुसलमानों का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से उसकी शुद्धि करने के लिए उसने यहा आनासागर तालाब बनवाया। राजपूताने का इतिहास, Vol. I, पृष्ठ ३०५।

होकर व्याकरण से होती है। बीसलदेव रासो की भाषा को व्याकरण की कसौटी पर कसने से पता चलता है कि उसमें अपभ्रंश के नियमों का विशेष पालन हुआ है। इस सम्बन्ध में दो उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

> कासमीर पाटणह मझारि। सारदा तुठि ब्रह्मकुमारि॥
> नाल्ह रसायण नर भणइ। हियडइ हरखि गायण यइ भाइ॥
> खेला मेहल्या मांडली। बहुत सभा मांहि मोहेउ छइ राइ॥
> खंड १, छंद ६।

> नाल्ह बखाणइ छइ नगरी जु धार। जिहां वसइ राजा भोज पंवार॥
> अगीय सइहस सजे करि मैमन्ता। पंच धोहण जे कर मिलइ निरिंदा॥
> कर जोड़े 'नरपति' कहइ। बिसनपुरी जाणे वसइहो गोव्यंद॥
> खंड १, छद १२।

ग्रन्थ के रचयिता के विषय में भी नाम के अतिरिक्त अन्य जानकारी बहुत ही कम है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सोलहवी शताब्दी के गुजरात के नरपति और बीसलदेव रासो के नरपति नाल्ह एक व्यक्ति नही हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया की एक होने की धारणा[1] का खण्डन करते हुए श्री माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है—"गुजरात के नरपति ने अपने को कही नाल्ह नही कहा जब कि बीसलदेव रासो का रचयिता अपने को नाल्ह कहता है। फिर जो पक्तियां तुलना के लिए दोनो कवियो से दी गई हैं, उनमें से चार तो इस संस्करण मे प्रक्षिप्त माने गए छदो की हैं और शेष तीन पक्तियों में जो साम्य है वह साधारण है। उस प्रकार का साम्य देखा जावे तो मध्य युग के किन्ही भी दो कवियों की रचनाओं मे मिल सकता है। फिर बीसलदेव रासो में न जैन नमस्क्रिया है और न कोई अन्य ऐसी बात मिलती है जिससे इसका लेखक जैन प्रमाणित होता हो। केवल आंशिक नाम-साम्य के आधार पर इस रचना को सोलहवी-सत्रहवी शती के किसी जैन लेखक की कृति मानना शुद्ध बुद्धि से सभव नही ज्ञात होता।"

—राजस्थानी सबद कोस की प्रस्तावना से उद्धृत।

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० मोतीलाल मेन

अन्तस्थल मे अभी यही प्राचीनता का ढाचा वर्तमान है। इसमे कुछ फारसी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—महल, इनाम, नेजा, चाबुक आदि। ये शब्द बाद मे मिलाये गये प्रतीत होते है। किन्तु यह भी सम्भव है, नरपति नाल्ह ने स्वय भी इनका प्रयोग किया हो। क्योकि उस समय मुसलमानो का भारत मे प्रवेश हो गया था। बीसलदेव के सरदारो में एक मुसलमान सरदार भी था, जैसा कि नरपति नाल्ह ने रासा म लिखा है—

> चढि चाल्यो छै मीर कबीर।
> खुदसार तुझ तुरे तुरघीर॥ १-४३
> महल पठाण्यो ताज दीन।
> सुरगांगी चढि चाल्यो गोड॥ १-४१

मुसलमानो के सम्पर्क मे आकर नरपति नाल्ह ने कुछ फारसी शब्दो को ग्रहण कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नही। प्राकृत एवम् अपभ्रश की छाप इस काव्य मे पूरी तरह स्पष्ट है। यह ग्रथ उस समय रचा गया जबकि साहित्यिक विद्वानो की भाषा प्राकृत व अपभ्रश थी। उस समय बोलचाल की भाषा मे नरपति नाल्ह ने काव्य-रचना कर वास्तव मे बडा साहस का कार्य किया। कही कही मेलन, चितह, रणि आपिजइ, इणिविधि, ईसउ, नायर, पमाऊ, पयोहर आदि प्राकृत शब्द भी आ गए, जिनका प्रयोग अपभ्रश काल के पीछे तक भी होता रहा।

बीसलदेव रासो मे कारक दो प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ मे तो विभक्तियो का प्रयोग है, कुछ मे कारक चिन्ह लगे हैं। इस प्रकार भाषा मे सयोगात्मक और वियोगात्मक दोनो अवस्थायें प्राप्त हैं। वर्तमान काल भी इसमे दो प्रकार से व्यक्त हुए है। एक तो 'छइ' वा 'हइ' मूल क्रिया मे लगा कर तथा दूसरे मूल क्रिया म परिवर्तन कर के। भाषा यद्यपि काफी नवीन रूप मे हो गई है किन्तु प्राचीन रूप भी पूर्णतया नष्ट नही हुआ। प्राय सञ्जाय, कारक आदि प्राचीन रूप मे मिलत है। विसनपुरी, म्हारउ मिलिग्र, पणमिग्र, अछइ, वे, राखइ, जेणि इत्यादि अपभ्र श के ठीक पश्चात् की लोक-भाषा के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोगो की सख्या काफी अधिक है। कई ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जो सोलहवी शताब्दी की भाषा के रूप कहे जा सकते हैं, जैसे—'बेटी राजा भोज की' में की और 'उलिगाणा गुण वरणिता में वरणिता का प्रयोग। किन्तु ऐसे शब्द बहुत कम है। इस तनिक से शब्द-साम्य पर इसे सत्रहवी शताब्दी का रचित जाली ग्रथ कह देना उचित नही। भाषा की परीक्षा उसके शब्दो से न